श्रीकृष्ण-सन्देश
वर्ष : ६ • अंक : ६

सहृदयं साम्मनस्यम-
विद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत
वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

"आप सबका हृदय, आशय, अभिप्राय, लक्ष्य एक हो। सङ्कल्प एक हो। परस्पर कभी विद्वेष न हो। मैं आपमें इन गुणोंका आधान करता हूँ। जैसे सर्वथा अवध्य गोमाता अपने सद्योजात बछड़ेसे प्रेम करती है, वैसे ही आप परस्पर प्रेम करें।"

जनपद सूक्त, अथर्ववेद

श्रीकृष्ण-सन्देश

धर्म, अध्यात्म, साहित्य एवं संस्कृति-प्रधान मासिक

प्रवर्तक

ब्रह्मलीन श्रीजुगलकिशोर बिरला

परामर्श-मण्डल

स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वती

श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

डॉ० श्रीभुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

श्रीजनार्दन भट्ट एम०ए०

श्रीहितशरण शर्मा एम०ए०

प्रबन्ध-सम्पादक

देवधर शर्मा

सम्पादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री,
साहित्याचार्य

स० सम्पादक

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

श्रीकृष्ण संवत् ५०७०

वर्ष : ६ अङ्क : ६
जनवरी १९७१

वार्षिक शुल्क : ७.००
आजीवन शुल्क : १५१.००

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान : प्रेरणाप्रद

प्रत्यक्षदर्शियोंके उद्गार

(जनवरी १९७१)

★

आज मैंने श्रीलालवहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, शक्तिनगर दिल्लीके प्रशिक्षण विभागके ५० छात्र तथा छात्राओंके साथ श्रीकृष्ण-जन्मभूमि तथा मन्दिरका दर्शन किया। यहाँके सुप्रबन्धको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। ट्रस्ट इसके लिए साधुवादका पात्र है।

रामनरेश मिश्र
भू० पू० रजिस्ट्रार वाराणसेय
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
प्रिंसिपल श्रीलालवहादुर शास्त्री
रा० सं० विद्यापीठ, दिल्ली।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। अतीतकी रक्षामें यह प्रयास सराहनीय है। सफलताकी कामना करता हूँ।

कैलाश चन्द्र मिश्र
प्रादेशिक पर्यटन-अधिकारी, आगरा

श्रीकृष्ण-जन्मभूमिका दिव्य पावन स्थान देखकर कृतार्थ हुआ। यहाँ आकर मन प्रसन्न हो गया। इतना सुन्दर शान्तिदायक तीर्थस्थान सौभाग्यसे ही दृष्टिगोचर होता है। लगता है, जैसे भव्य भवनोंका एक उपनिवेश निर्मित हो गया है। इस संस्थासे प्रकाशित 'श्रीकृष्ण-सन्देश' देखकर और भी आनन्द आ गया। भगवान् श्रीकृष्ण इस संस्थाकी कीर्तियोंको सदा समुन्नत और अभ्युदयशील रखें, यही शुभ कामना देकर जा रहा हूँ।

श्रीहरिमोहन झा
दर्शनविभाग, विश्वविद्यालय,
रानीघाट पटना।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानके दर्शनार्थं मन्दिरका प्रयास हिन्दू एवं विश्व जातिके लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

बाबूलाल जैपुरिया,
ई ९ कालिन्दी, नई दिल्ली—१४

I am very much impressed and glad to have seen one of the sacred sites of Hinduism, the birthplace of Lord Krishna.

Dr. Dietrich Bukowshi
Austrain Embassy
New Delhi

Our visit to this temple is highly satisfactory. We admire the cleanliness and the peace of the surrounding The Brahmin was kind to us and showed us and also explained to us everything concerning the temple. We hope that God may bless us and all who came to this temple.

Mr W. Bal Govind
Durban, S. Africa.

Mr. & Mrs. B. Ajoodhan,
Box 20, Lenasia,
Johannesburg, S. Africa.
Mr. I. Lalaram,
Lenasia, Johannesburg.

I feel myself fortunate to have the rare previlege of visiting this site of puranic importance. The restoration of the site to its immortal and ancient glory will be highest and greatest act of national integration. The organisation des-

erves all sympathy, encouragement and benevolence both official and non official.

Hara Prasad Mohapatra
Minister For Law, Forestry,
Community Development and
Panchayatraj, Orrisa.

We consider it a great privilege and honour to visit this most pious and holy place of the Hindus-with devotion and reverence to Lord Krishna we bow and pray to him the supreme spirit.

Jhaveri Sisters
215, Marine Drive,
Bombay–20.

I am thrilled to find renovation work at the site Time will show the remaining renovation. Younger generation will confirm to find the place worthy of peace at all time to come.

P. C. Prasad, I. P. S.
Superintendent of police
Mathura.

श्रीहरिः

'श्रीकृष्ण-सन्देश'के उद्देश्य तथा नियम

उद्देश्य : धर्म, अध्यात्म, भक्ति, साहित्य एवं संस्कृति-सम्बन्धी लेखोंद्वारा जनताको सुपथपर चलनेकी प्रेरणा देना और जनमानसमें सदाचार, सद्विचार, राष्ट्रप्रेम, आस्तिकता, समाजसेवा, सर्वाङ्गीण समुन्नति तथा युगके अनुरूप कर्तव्यबोधको जाग्रत् करना 'श्रीकृष्ण-सन्देश' का शुभ उद्देश्य है।

● **नियम :** उद्देश्यमें कथित विषयोंसे सम्बद्ध श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके अविरुद्ध तथा आक्षेपरहित एवं लोककल्याणमें सहायक लेख ही इस पत्रिकामें प्रकाशित होते हैं। लेखोंमें काट-छाँट, परिवर्तन-परिवर्धन आदि करने अथवा उन्हें छापने, न छापनेका सम्पूर्ण अधिकार सम्पादकको है। अस्वीकृत लेख बिना माँगे नहीं लौटाये जाते। वापसीके लिए टिकट भेजना अनिवार्य है। लेखमें प्रकाशित विचारके लिए लेखक ही उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

लेखक उद्देश्यमें निर्दिष्ट विषयपर ही उत्तम विचारपूर्ण लेख भेजें। लेख स्वच्छ और सुपाठ्य अक्षरोंमें कागजके एक ही पृष्ठपर बायें हासिया छोड़कर लिखा होना चाहिए। लेखका कलेवर अधिक बड़ा न रहे। सामग्री सुन्दर, सामयिक तथा प्रेरणाप्रद हो। लेख सम्पादक—'श्रीकृष्ण-सन्देश' रू० नं० ६, कैलगढ़ कालोनी, जगतगंज-वाराणसीके पतेपर भेजें।

● 'श्रीकृष्ण-सन्देश' अगस्त माससे प्रारम्भ होकर प्रत्येक मासकी पहली तारीखको प्रकाशित होता है, इसका वार्षिक मूल्य ७) है। जो लोग एक सौ इक्यावन रुपये एक साथ एक बार जमा कर देते हैं, वे इसके आजीवन ग्राहक माने जाते हैं। उन्हें उसी चंदेमें उनके जीवनभर 'श्रीकृष्ण-सन्देश' मिलता रहेगा।

ग्राहकोंको अपना नाम पता सुस्पष्ट लिखना चाहिए। ७) चंदा मनि-आर्डर द्वारा अग्रिम भेजकर ग्राहक बनना चाहिए। वी० पी० द्वारा अंक जानेमें अनावश्यक विलम्ब तथा व्यय होता है।

● **विज्ञापन :** इसमें उत्तमोत्तम समाजोपयोगी वस्तुओंका ही विज्ञापन दिया जाता है। अश्लील, जादू-टोने आदि तथा मादक द्रव्योंके विज्ञापन नहीं छपते। विज्ञापन पूरे पृष्ठपर छपनेके लिए ५००) रुपये तथा आधे पृष्ठपर छपनेके लिए ३००) रुपये भेजना अनिवार्य है।

पत्र-व्यवहारका पता :
व्यवस्थापक—'श्रीकृष्ण-सन्देश'
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ
मथुरा

वर्ष : ६] मथुरा, जनवरी १९७१ [अङ्क : ६

शाश्वत पद प्राप्त करो

तुम कर्म जो चाहो करो, तुम्हारे लिए सब कर्म करनेकी छूट है। अमुक कर्म करो, अमुक मत करो, ऐसा कोई प्रतिबन्ध तुम पर नहीं है। तुम सदा सब कर्म कर सकते हो; किन्तु एक शर्त है, सदा सब कुछ करते हुए भी मेरे आश्रयमें रहो। मेरी शरणमें रह कर ही अभीष्ट कर्मका सम्पादन करो। जानते हो, इसका परिणाम क्या होगा? तुम्हारे कर्म शुद्ध हो जायँगे। तुमसे बुरा कर्म या पाप कर्म तो बन ही नहीं सकता। मेरी शरणमें, मेरे सम्मुख जो हो! क्या यह कभी सम्भव है कि मनुष्य सूर्यके प्रकाशमें भी रहे और अन्धकारमें भी भटके? तुम यह जान लो कि पहलेका अत्यन्त दुराचारी मानव भी यदि मेरी शरणमें आ जाय और अनन्य भावसे मेरा भजन करने लगे तो उसके पाप-ताप धुल जाते हैं; अतः वह साधु ही है, क्योंकि उसने एक उत्तम निश्चय—वांछनीय व्रत ग्रहण कर लिया है। मेरी शरणमें आनेका द्वार सबके लिए खुला है। माता यह शर्त नहीं रखती कि उसका बेटा नहा-धोकर सज-धज कर ही उसके पास आये। इतना आग्रह अवश्य रखती है कि उसका लाड़ला उसके पास रहे, उसकी गोदमें खेले। छोटा बच्चा धूल और कीचड़में सना होने पर भी बेखटके माँके पास आता है और माँ उसे गोदमें लेकर प्यारसे चूम लेती है। इतना स्नेह उसे इसलिए मिलता है कि वह माँके सिवा दूसरे किसीको अपना

नहीं मानता। वह माँका अनन्य शरणागत है। माँ स्वयं नहलाती धुलाती और उसके-शरीरकी मैल धोकर साफ करती है। यही स्वभाव मेरा है; मैं शरणागतके पाप-पंक स्वयं धोता हूँ और पुनः कभी उसे पापके गड्ढेमें गिरने नहीं देता हूँ। वह शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है, शाश्वत शान्ति पानेका अधिकारी बन जाता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि 'तुम सब कुछ छोड़कर सारे धर्मोंकी उपेक्षा करके केवल मेरी शरणमें आ जाओ। चिन्ता न करो, मैं तुम्हें सब पापोंसे बचा लूँगा।' तुम मेरी इस प्यार भरी पुकारकी अवहेलना मत करो। अवश्य आवो और मेरी शरणमें रहो। जो सब कर्म करते हुए भी मेरी शरणमें स्थित है, वह मेरी कृपासे शाश्वत पदको प्राप्त कर लेता है। मुझे किसीके कर्मसे कुछ लेन-देन नहीं है। मैं केवल अपनी शरणमें बुलाता हूँ, इसलिए कि अनादिकालसे दुखके दावानलमें झुलसते हुए जीवको मेरी कृपा-धारा प्राप्त हो; जो उसे सदाके लिए शीतल कर दे। शाश्वत पदकी प्राप्ति जीवके पुरुषार्थका फल नहीं, मेरी कृपाका अमृतमय प्रसाद है। वैसे तो मेरी कृपा सब जीवों पर सदा ही बनी रहती है; किन्तु शरणागतिका अर्थ है, मेरे सम्मुख होना। जो विमुख है, वह तो मेरी अनवरत प्रवाहित कृपा-धारामें गोता ही नहीं लगाना चाहता, फिर उसे शाश्वत आनन्द मिले कैसे ? मेघकी वर्षा उन्मुक्त गगनके तले आनेवाले सबको प्राप्त होती है, किन्तु जो छतरी लगाकर उसे रोक देता है, वह उसके सरस संस्पर्शका सुख कैसे पा सकता है। अतः यदि शाश्वत परम पदकी उपलब्धि करनी है तो जीवको मेरी शरणमें आना ही पड़ेगा—

'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥'

●

भक्तियोगका लक्षण

भगवद्गुणोंके श्रवण मात्रसे उन सर्वान्तर्यामी प्रभुमें, सागरके प्रति गंगाकी धाराके समान, जो मनकी अविच्छिन्न गति प्रवाहमान होती है, वही भक्तियोगका लक्षण है।

(श्रीमद्भाग० ३।२९।११-१२)

सम्पादकीय

मानव-जीवन सार्थक करें

★

आजका मानव अर्थोपासक हो गया है। वह प्रत्येक कार्य या वस्तुका मूल्याङ्कन आर्थिक दृष्टिसे ही करता है। यह पढ़ता है धनके लिए, उपासना करता है धनके लिए, ज्ञान, यज्ञ, तप, स्वाध्याय आदि सभी वस्तुएँ उसकी दृष्टिमें तभी तक मूल्यवान हैं, जबतक उनके द्वारा धर्मोपार्जन होता रहे, अन्यथा इनका कोई महत्त्व नहीं है। वह धनके लिए सत्—असत् सभी मार्गों पर चलनेके लिए कटिबद्ध है। यदि धन मिल गया तो उसका उपभोग केवल कामोपभोगके लिए किया जायगा। धर्म, अध्यात्म-योग या मोक्ष नगण्य हैं; कामके समक्ष। यही कारण है कि आज जगत्में चोरी-डकैती, नारी-शील-हरण, हिंसा आदि पाप पनप रहे हैं। दैवी सम्पत्तिका विलोप और आसुरीका अभ्युदय देखा जारहा है। भगवान् श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि 'दैवी सम्पदा मुक्तिका साधन है और आसुरी सम्पत्ति बन्धनमें डालने वाली है।' हम सबको यह सोचना चाहिए कि हमारा यह शरीर नाशवान् है। कब तक रहे, न रहे, इसका कोई भरोसा नहीं। तथापि हम अपनेको अजर-अमर मानकर धन और पाप बटोरनेमें जीवनका अमूल्य समय गवाँ रहे हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है! आज जो मनुष्यका जन्म मिला है, यह भगवान्की बड़ी कृपासे सुलभ हुआ है। यदि इससे लाभ नहीं उठाया गया तो बड़ी भारी भूल होगी। इस जीवनको तत्त्वज्ञानोपार्जन अथवा भगवद्भजनमें लगाकर कृतार्थ किया जाय। विश्वरूप भगवान्की सेवा तथा परोपकारमें लगाकर इसे सार्थक कर लिया जाय; इसीमें हित है। अन्यथा बड़ी भारी हानि है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

अर्धकुम्भीपर्व तथा माघ-मकर-अमावास्या

इस वर्ष प्रयागमें अर्धकुम्भीका पुण्य पर्व लग रहा है। इसमें दूर-दूरके सन्त-महात्मा पदार्पण करते हैं और धार्मिक जनताको अपने उपदेशामृतका पान कराकर कल्याणके पथ पर

चलनेकी प्रेरणा देते हैं। तीर्थराज प्रयागकी पावन भूमि इस पुण्य पर्वका सुयोग पाकर और भी महिमान्वित हो उठती है। इसी अवसर पर मकर-संक्रान्ति आकर उसकी महत्ताको अनन्त-गुणित कर देती है। इस पर्वका प्रत्यक्ष प्रभाव और चमत्कार यह है कि पर्वकी वेलामें स्नानार्थियोंके स्नानकी सुविधाके लिए महासागर एक बहुत बड़ा भूभाग खाली कर देता है; जहाँ गंगा-सागर संगमका मेला लगता है। शास्त्रीय वचनोंके अनुसार मकर-संक्रान्तिमें प्रयागके संगमतीर्थके जलमें स्नानकी बड़ी महिमा मानी गयी है। संक्रान्तिके बाद अमावस्याका पर्व होता है; जो सबसे उत्कर्षशाली है। इसके बाद वसन्त-पञ्चमी आती है, जो सरस्वतीको विशेष प्रिय है। इसके सिवा, वह कामोत्सवतिथि भी कही गयी है। इस पुण्य वेलामें स्नान, दान तथा सत्संगका लाभ लेनेवाले यात्रियोंको मनमें अत्यन्त सात्त्विक भावना लेकर इन्द्रियों-को वशमें रखते हुए तीर्थराजकी पुण्य भूमिमें कल्पवास करना चाहिए। प्रतिदिन त्रिवेणी-स्नान, यथाशक्ति दान, भगवान् वेणी-माधवका दर्शन, भगवन्नाम-जप कीर्तन-कथा आदिका सेवन प्रत्येक तीर्थयात्रीका दैनिक कृत्य होना चाहिए। हाथ-पैर, मन-बुद्धि तथा इन्द्रियोंको संयत रखनेसे ही तीर्थ-सेवनका पूर्ण लाभ मिल सकता है। तीर्थमें किये गये पुण्य और पाप कोटिगुणित हो जाते हैं। ऐसा सोचकर पापसे बचना तथा पुण्य-कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए।

•

राधिका-विहारीकी झाँकी

राधाकृष्ण राधाकृष्ण रटिबे कौ राखौ धेय,
अन्त काम आवै कीर्ति अधम-उधारीकी !
पातकीके पातक भसम होत भाव भरी,
भगति-अगिनि मांह गिरिवरधारीकी !!
सुकवि "मृगेश" विप्र-पायनिमें ध्यान धरौ,
मूरति मनोज्ञ यह सुजन-सुखारीकी !
लाभ-हेतु जीवनके वृन्दावन-वीथिनमें,
बाँकी लखौ झाँकी रम्य राधिका-बिहारीकी !!

—'श्रीमानन्न मृगेश'

परम पूज्य ब्रह्मलीन महामना श्रीमदनमोहन मालवीयजी

★

पूज्य महामनाके सम्बन्धमें कुछ निवेदन करना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है। वे अपने त्याग, सेवा तथा परोपकारमय जीवनसे भारतकी जनताके हृदय-मन्दिरमें तो प्रतिष्ठित हैं ही, विदेशियोंमें भी उनके प्रति अत्यन्त समादरका भाव है। काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, जो विश्वमें विख्यात तथा अत्यन्त गौरवास्पद संस्थान है, पूज्य मालवीयजीकी अक्षय कीर्तिके रूपमें विद्योतमान है। वहाँका गगनचुम्बी विश्वनाथ-मन्दिर उन महामहिम महर्षिके अमोघ संकल्पका मूर्तिमान् रूप है। उनके दाहिने हाथ स्व० सेठ जुगलकिशोर बिड़लाने विशेष परिश्रम करके उनके महनीय संकल्पको साकार किया था। श्रीकृष्ण-जन्मस्थान मथुराके समुद्धारका कार्य भी मालवीयजीने अपने जीवनमें ही आरम्भ किया था, जो उनके पुण्यसे तथा स्वर्गीय जुगलकिशोर-जीके अथक-श्रमसे उत्तरोत्तर आगे बढ़ा और अब भी उनके पदचिह्नोंपर चलनेवाले धर्मपरायण श्रीकृष्ण-भक्त इस कार्यको संपूर्णताकी ओर तीव्र गतिसे ले जा रहे हैं।

अनेक कठिन परिस्थितियोंमें भी हिन्दू विश्वविद्यालय-जैसी संस्थाको खड़ी करके उसे शानसे चला देना महामना मालवीयजीका ही कार्य था। वे सनातन धर्म तथा उसके प्रतिपादक शास्त्रोंमें गहरी निष्ठा रखनेवाले महर्षि थे। उन्होंने देशको स्वतन्त्र करनेकी दिशामें महात्मा गांधीजीके सहयोगी रहते हुए सफल नेतृत्व किया था। गांधीजी उन्हें गुरुतुल्य मानते थे। वे हिन्दू-संगठनके महान् पक्षपाती थे तथा संस्कृतविद्याके समुन्नयनके लिए सदा यत्नशील रहे। उन्होंने देश और समाजकी समुन्नतिके लिए जो भी आवश्यक समझा उसे निर्भीक होकर किया। वे स्वतन्त्र नेता थे, किसीके पिछलग्गू या अन्धभक्त नहीं थे। उनका भाषण और कथा-प्रवचन बड़ा प्रभावशाली होता था। वे भगवान् श्रीकृष्णके प्रति भक्ति रखनेवाले तथा व्रजभाषाके सत्कवि थे। पत्रोंके सफल सम्पादक और लेखक थे। अच्छे वकील थे। चौरीचौरा-काण्डमें निरपराध फँसाये गये सैकड़ों लोगोंको उन्होंने फाँसीपर लटकनेसे बचा लिया। वे बड़े दयालु और सहृदय थे। उनके करुण स्वभाव, उदारता और आत्मीयताका विशेष अनुभव उन सब लोगोंको है, जो कभी भी उनके सम्पर्कमें क्षण भरके लिए भी आये हैं। नोआखली हत्याकाण्डके समय, जब सभी नेता मौन-से हो गये थे, मालवीय-जीने सिंहके समान दहाड़कर अनीति और अत्याचारके विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी थी। वे एक साथ ही देशभक्त, समाजसेवी, शिक्षाके उन्नायक; संस्कृत तथा संस्कृतिके रक्षक, हिन्दी भाषाके संवर्धक स्वतन्त्रताके सेनानी तथा राष्ट्रके सम्माननीय नेता थे। २१ दिसम्बरको देशभरमें उनकी जयन्ती मनायी गयी है। भारतकी जनता मालवीयजीके उपकारोंको कभी भूल नहीं सकेगी। हम उनके प्रति श्रीकृष्ण-संदेश परिवारकी ओरसे सादर श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। ●

महाभारतमें सामाजिक अनुबन्ध

स्वामी श्रीकरपात्रीजी

★

महाभारत शान्तिपर्वमें शरशय्याशायां भीष्मजीने अन्य धर्मोंके साथ राजधर्मका भी उपदेश कियां हैं। उसमें उन्होंने अराजकताको बड़ा पाप बताया है और कहा है कि 'राज्यस्थापनाके लिए उद्यत बलवान्के सामने सबको ही झुक जाना चाहिए। अराजक राज्यको दस्यु नष्ट कर देते हैं—'अनिन्द्रमबलं राज्यं दस्यवोऽभिभवन्त्युत।' अराजक राज्य निर्वीर्य होकर नष्ट हो जाते हैं। अराजकतासे अधिक कोई पाप नहीं। (शां० प० राजा० ६७।७)

कुछ लोग भीष्मद्वारा वर्णित मात्स्यन्यायकी हाब्सकी प्राकृतिक स्थितिसे तुलना करते हैं। कहा जाना है कि जिस युगमें मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था, वह 'स्टेट आफ नेचर' (प्राकृतिक दशा) है। जिसमें प्राकृतिक युगके बन्धनसे मुक्त होकर सामाजिक जीवनमें प्रवेश करता है, उसे 'स्टेट आफ सोसाइटी' कहते और जिसमें राज्य निर्माण करके राजनीतिमें प्रवेश करता है, वह है 'स्टेट आफ पोलिटिकल सोसाइटी'। जैसे जलमें प्रबल मत्स्य निर्बल मत्स्योंका भक्षण कर लेता है, वैसे ही प्रबल मनुष्य दूसरे निर्बल मनुष्योंके वित्त-कलत्र आदि सब कुछ छीन लेते हैं, एक दूसरेकी हत्या कर देते हैं। (शां० प० ६७।१७)

इसे ही 'लाजिक फिश' (मात्स्यन्याय) कहते हैं। इसी मात्स्यन्यायसे पीड़ित होकर मनुष्योंने एकत्र होकर सदाचारसम्बन्धी कुछ नियम बनाये। जैसे कठोर वाणी, पर-स्त्री, पर-धन-हरण आदिके त्यागका नियम बनाया गया। इससे काम, क्रोध, लोभ, मोहादिसे छुटकारा होता है और मनुष्य घृणित नारकीय यातनामय, भयभीत एवं सशङ्क क्षणिक जीवनसे हटकर सभ्य जीवनमें प्रवेश करता है। (शां० प० ६७ अ०)

हाब्सने भी 'स्टेट आफ नेचर' (प्राकृतिक राज्य) का इसी प्रकार वर्णन किया है, परन्तु हाब्सके अनुसार मनुष्यमें केवल भय-वृत्ति थी। इसी भयसे बचनेके लिए स्वार्थमयी वृत्तिसे राज्यका विकास हुआ। परन्तु भीष्मके अनुसार लोभ, मोह, काम, क्रोध, मद, मत्सर— ये छः प्रधान आसुरी वृत्तियाँ मात्स्यन्यायके कारण हैं। अतः इन सबसे छुटकारा पाना सामाजिक जीवन-निर्माणका उद्देश्य है। इन वृत्तियोंपर विजय प्राप्त करना ही सभ्यता है।

पर ये सामाजिक नियम (मारल लाज) ही बने रहे, वास्तविक नियम (पाजिटिव लॉ) न बन सके; क्योंकि उन नियमोंका पालन करनेके लिए विवश करनेवाली कोई सत्ता न थी। जनताकी स्वीकृतिमात्र ही उसका आधार था। भीष्मका यह समाज-निर्माण सामाजिक

अनुबन्ध या पारस्परिक समझौता था; किन्तु नियम-निर्माणके बाद उन नियमोंका कोई नियामक न होनेसे पालन न हो सका। लोग मनमानी उन नियमोंका उल्लङ्घन करने लगे, तब उन्हें एक शासककी आवश्यकता हुई। जिसके नियन्त्रण या दण्ड-भयसे प्रजाको नियम-पालनके लिए विवश होना पड़े। एतदर्थ प्रजाने ब्रह्माके पास जाकर विनय की कि एक राजा या शासकके विना हमलोग नष्ट हो जायँगे, अतः हमलोगोंके लिए कोई समर्थ योग्य शासक दीजिये, जिसका कि हमलोग सम्मान करें और वह हमलोगोंका रक्षण करे। (शां० प० ६७।२०–२१)

तब ब्रह्माने प्रजाके सामने अष्टलोकपालोंके दिव्य प्रताप, तेज आदिसे युक्त मनुको प्रस्तुत किया। परन्तु मनुने शासक बनना अस्वीकार कर दिया और कहा कि 'राज्य चलानेमें पापका डर रहता है, राज्य चलाना बहुत कठिन काम है। राजाको दण्ड देना पड़ता है। विशेषतः मिथ्याचारमें संलग्न प्रजाका पालन तो बहुत ही कठिन है।' इसपर प्रजाने कहा कि 'तुम डरो मत, दण्ड देना पाप नहीं; वह तो पाप करनेवालोंके पापोंका ही फल है और हमलोग पशु तथा सुदर्णके लाभका पचासवाँ भाग तथा धानका दसवाँ भाग राजकोष-वृद्धिके लिए तुम्हें देते रहेंगे। उत्तम वस्तु तुम्हें भेंट की जायगी। शस्त्रोंसे सुसज्जित शूर तुम्हारा अनुसरण करेंगे। इस तरह तुम दुष्प्रधर्ष और प्रतापयुक्त होकर विजयी होओगे। राजासे सुरक्षित होकर प्रजा जो पुण्यकर्म करेगी, उस धर्मका चतुर्थांश भी तुम्हें मिलता रहेगा। इस तरह सुखसे प्राप्त धन, धर्म एवं बलसे उपबृंहित होकर तुम हमलोगोंका उसी तरहसे पालन करोगे, जैसे इन्द्र देवताओंका। तुम सूर्यकी भाँति चमकते हुए विजयके लिए प्रस्थान करो। शत्रुओंका मान-मर्दन करो, तुम्हारी सदा जय होगी।' (शां० प० रा० ६७।२३–२।२५१)

इस तरह राजाका वरण करके प्रजाने राज्यका निर्माण किया। यहाँ सामाजिक संगठन तथा सामाजिक नियमोंको स्थायी एवं अक्षुण्ण रखनेके लिए ही राज्यका निर्माण हुआ है। अतः राजाको उतने ही अधिकार दिये गये हैं जितने कि उक्त कार्यके लिए आवश्यक थे।

हाब्सके कल्पनानुसार 'राजाको प्रजाने अपने सभी अधिकार नहीं सौंपे। अतएव हाब्सके 'लिबियाथन' (दीर्घकाय) के तुल्य यह राजा निरंकुश नहीं था। उसके अधिकार सीमित थे। यदि वह अधिकारोंका दुरुपयोग करे तो जनताको उसे पदच्युत करनेका भी अधिकार था।' हाब्सके अनुसार 'दीर्घकायका विरोध करना कथमपि न्यायसंगत नहीं है।' परन्तु भीष्मके अनुसार ऐसा नहीं। यहाँ उद्धत वेन-जैसे राजाको प्रजाप्रतिनिधि-ऋषियोंने पदच्युत ही नहीं; उसे नष्ट भी कर दिया था। यही भीष्म-सम्मत सामाजिक समझौताका सिद्धान्त या सोशल कंट्राक्टकी थ्योरी है।

कुछ लोग भीष्मद्वारा वर्णित मात्स्यन्यायके युगको हाब्सका प्राकृतिक युग ही मानते हैं, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है; क्योंकि भारतके अनुसार वस्तुतः कृतयुगमें सभी प्रजा धर्मनिष्ठ तथा परम विवेक, विज्ञान, संयम-सम्पन्न थी। कालक्रमसे सत्त्वगुणके ह्रास होनेपर धर्म-ह्रास होनेसे रज, तम एवं तदुद्भूत अधर्म बढ़नेपर ही मात्स्यन्यायका आविर्भाव हुआ। मात्स्यन्यायकी स्थिति प्राकृतिक अवस्था नहीं है। वह विकृतिभूत अवस्था है। शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार विकासकी अपेक्षा ह्रासका ही पक्ष तथ्य है। इसीलिए विष्णुके पुत्र ब्रह्मा सर्वज्ञ हुए। ब्रह्माके

पुत्र वशिष्ठ आदि भी सर्वज्ञकल्प हुए। जिनकी सृष्टि जितनी कारणके समीप थी, उनमें उतनी ही स्वच्छता थी। फिर जितनी-जितनी कारणसे दूर होती गयी, उतनी ही अस्वच्छता होती गयी। अतः कारणके अव्यवहित समीपस्थ प्रजा (प्राणी) सात्त्विक, धर्मात्मा, विचारशील तथा नियन्त्रित थी। वैसे भी हरएक कृतयुगमें सत्त्वका विकास अधिक ही होता है। जैसे प्रत्येक ग्रीष्म, हिम आदि ऋतुमें गर्मी, जाड़ा आदिका प्रादुर्भाव होता है। उसी तरह कृतयुगमें सत्त्वका विशेषरूपसे विकास होता है। इस तरह मात्स्यन्यायकी अवस्था विकार ही है, स्वाभाविक नहीं। इसीलिए दूसरे प्रसङ्गमें उसी राजधर्ममें भीष्मने वतलाया है—

'आदि कृतयुगमें जिस तरह राज्य उत्पन्न हुआ वह सुनो, उस समय राज्य, राजा, दण्ड एवं दण्ड देनेवाला कुछ भी नहीं था। समस्त प्रजा धर्मके अनुसार चलती थी और उसी धर्मसे परस्पर रक्षा कर लेती थी। (उस समय अनन्त विद्याओंके उद्गमस्थान वेद तथा तदनुसारी आर्षशास्त्र सबको अभ्यस्त थे। अतः धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी उचित विवेकपूर्वक सभी व्यवस्थाएँ चल रही थीं। सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति परा काष्ठापर पहुँची थी। रूसो तथा मार्क्स आदिद्वारा कल्पित भविष्यके स्वर्णयुग उसके सामने नगण्य थे।) धर्मनीतिसे अन्योन्य-पालन-संलग्न प्रजा कालक्रमसे खेद या थकावटको प्राप्त हो गयी, फिर उसमें मोहका प्रवेश हुआ। मोहके कारण स्मृतिभ्रंश हुआ और फिर धर्मका लोप होने लगा। स्मृतिभ्रंश होनेसे लोग लोभके वश होकर विचारहीन हो गये और फिर रागकी प्रवृत्ति हुई और फिर कामका प्रादुर्भाव हुआ। उससे कार्याकार्यका ज्ञान भी न रहा, फिर तो अगम्यागमन, भक्ष्याभक्ष्य, वाच्यावाच्य, दोषादोषका विचार नष्ट हो गया। ऐसी दशामें वेद जो कण्ठस्थ हो गये थे, विस्मृत हो गये। वेदके विस्मरणसे वेदोक्त धर्मकर्मका भी लोप हो जाना स्वाभाविक था। (इससे स्पष्ट है कि पहले वेदादि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्म-कर्म, विवेक-विज्ञानोंका पूर्ण-रूपसे प्रकाश था।) इस स्थितिको देखकर देवतालोग त्रस्त होकर ब्रह्माकी शरण गये और उस भयके दूर करनेका उपाय पूछा।' (महा० शा० प० राज० ५९।१३–२२)

ब्रह्माजीने सोच-विचारकर सबके कल्याणार्थ धर्म, अर्थ, कामका बोधक तथा प्रापक एक लाख अध्यायोंका दण्डनीति-शास्त्र वनाकर देवताओंको दिया। उसे सर्वप्रथम शंकरजीने ग्रहण किया। उनसे वृहस्पति, शुक्र, इन्द्रादिने ग्रहण किया और उसका संक्षेप भी किया।

(शां० प० ५९।२९,७७)

यद्यपि यह शास्त्र भी वेदाभ्यासजन्य संस्कृत ब्रह्मवुद्धिसे प्रादुर्भूत होनेके कारण वेदमूलक ही था, फिर भी उस परिस्थितिके लोगोंमें विशेषरूपसे प्रभावशाली हुआ। प्रभुसंमित वेद-वाक्योंकी अपेक्षा सुहृत्-सम्मत वाक्योंके रूपमें व्यक्त होकर यह अधिक उपकारी सिद्ध हुआ। फिर भी इसे पूर्णरूपसे कार्यान्वित करनेके लिए दण्डकी अपेक्षा थी। दण्डसे युक्त होकर निग्रहानुग्रहद्वारा लोकरक्षणका हेतु वनकर ही यह दण्डनीति प्रचलित हो सकती थी। अतः योग्य समर्थ दण्डप्रणेता प्राप्त करनेके लिए देवता विष्णुके पास गये और उनसे श्रेष्ठ शासक माँगा। भगवान् नारायणने उन्हें श्रेष्ठ लोकपालोंके दिव्य सद्गुणोंसे सम्पन्न एक निर्दोष विरजा (रजोगुणसे रहित) राजा निर्माण करके दिया।

(८८)

वह राजा प्रभुत्व-निरपेक्ष होकर त्याग-वैराग्यकी ही ओर रुचि रखता था। उसका पुत्र कीर्तिमान् और पौत्र कर्दम हुआ। क्रमेण अंग, फिर वेन राजा हुआ। वह उत्पथगामी था। इसीलिए ऋषियोंने उसे पदच्युत कर दिया और अभिमन्त्रित कुशोंसे मार डाला। उसका पुत्र पृथु हुआ। वह बहुत ही योग्य एवं धर्मात्मा हुआ। उसने ऋषियोंसे प्रार्थना की कि 'मुझे आपलोग आज्ञा दें, क्या करूँ ?' ऋषियोंने उससे प्रतिज्ञा करायी 'तुम नियत होकर निःशङ्क होकर धर्मका आचरण करो। स्वयं प्रिय, अप्रिय छोड़कर सब काम-क्रोध, लोभ एवं मानको दूरसे ही त्यागकर सब प्राणियोंका समानरूपसे हिताचरण करो। जो भी धर्मसे विचलित हो शास्त्रधर्मके अनुसार उसका निग्रह करो और यह भी प्रतिज्ञा करो कि मन, वचन, कर्मसे तुम भौम ब्रह्म (पृथ्वीके ब्राह्मणों) की रक्षा करोगे। जो भी धर्म नीतियुक्त होगा, निःशङ्क होकर उसका पालन करोगे और मनमानी कुछ न करोगे। यह भी प्रतिज्ञा करो कि ब्राह्मणोंको प्राणदण्ड नहीं दोगे और सभी लोकोंको साङ्कर्यसे बचाओगे।'

पृथुने वैसी ही प्रतिज्ञा की और कहा कि 'ब्राह्मण सदा ही हमारे नमस्य होंगे।' इस तरह परस्पर वचनबद्ध होकर राज्य व्यवस्थित किया गया। इसे ही 'सोशल कंट्राक्ट्स' कहा जा सकता है। शुक्राचार्य पृथुके पुरोहित हुए। बालखिल्य ऋषिगण मन्त्री हुए। देवताओं तथा इन्द्रके साथ विष्णुने पृथुका अभिषेक किया। पृथुने प्रजाका रञ्जन किया और इसलिए वे राजा कहे गये। (महा० शां० प० ५९।१०३–११०,११६,१२५)

कुछ लोग सत्ययुगके धर्मराजकी लॉक या रूसोके प्राकृतिक युगसे तुलना करते हैं और कहते हैं कि 'उस समय राज्यकी परिपाटीका ज्ञान लोगोंको नहीं था। उस समयके मनुष्य राजनीतिक जीवनसे अनभिज्ञ थे।' परन्तु यह सर्वथा असंगत है। वस्तुतः भीष्मद्वारा वर्णित कृतयुगकी राज्य-विहीन प्रजाका वर्णन अविवेक एवं अज्ञानमूलक न होकर धर्मज्ञानोत्कर्षमूलक था। रूसो एवं मार्क्स जिस स्वर्णयुगको उन्नतिकी पराकाष्ठा मानते हैं, उनसे भी उत्कृष्ट कोटिकी यह भीष्मोक्त स्थिति है। वह धर्मराज्य सर्वज्ञता, ब्रह्मनिष्ठताकी आधारभित्तिपर स्थित था और राजदण्डादिसे मुक्त था; क्योंकि सभी विवेकी थे, वेद उन्हें कण्ठस्थ थे। उन्हें कोई वस्तु अविदित थी, यह नहीं कहा जा सकता।

शङ्का हो सकती है कि 'जब वे इतने ज्ञानसम्पन्न थे, तब इतने भीषण अनाचारी होकर मात्स्यन्यायके शिकार कैसे हो गये ? इस बातका समाधान लॉक एवं रूसोके मतसे भले न हो सके, किन्तु धर्मवादी भीष्मके मतानुसार जीव अनादि होता है। उसके कर्मोंकी परम्परा भी अनादि है। उन्हीं कर्मोंके अनुसार सत्त्व, रज, तममें ह्रास-विकास होता रहता है। कालक्रमसे वैसे कर्मोंके उद्भूत होनेपर खेद, तम, मोह, प्रतिपत्ति, विनाश, राग, काम, धर्म लोप आदिका विस्तार हुआ और प्राणी पतित हो गया। आज भी हम देखते हैं कि कोई अच्छा आदमी भी परिस्थितियों, घटनाओं और कर्मके वश होकर खराब हो जाता है और कभी खराब आदमी अच्छा हो जाता है। जैसे मार्क्सके स्वर्णयुगकी कल्पनामें 'राजा—राज्यादि नहीं होते' यह अज्ञतामूलक नहीं, किन्तु विज्ञतामूलक है। उसी तरह भीष्मके कृतयुगका राज्यादिविहीन

धर्मराज्य अज्ञतामूलक नहीं था, किन्तु विज्ञतामूलक था। सुतरां लॉकके 'सिविल गवर्नमेंट' पुस्तकमें वर्णित 'ओरिजिनल स्टेट आफ नेचर' और भीष्मके धर्मराज्यमें पर्याप्त अन्तर है। हाब्सके प्राकृतिक युगसे तो इसका महान् भेद है ही। हाँ, हाब्सके प्राकृतिक युगका भीष्मके विकृत युगके मात्स्यन्यायसे कथंचित् मेल बैठता है।

रूसोके प्राकृत युगका मनुष्य भावुक था। विवेकहीन होनेके कारण उसे सुख-दुःख नहीं होता था। परन्तु भीष्मका आदिम पुरुष पूर्ण विवेकी तथा सुखी था। भारतीय शास्त्रोंमें कहा गया है कि दो ही ढंगके पुरुष सुखी रह सकते हैं—एक अत्यन्त विवेकहीन मूढ़, दूसरा परम विवेकी तत्त्ववेत्ता। दूसरे सभी लोग मध्यवर्ती दुखी ही रहते हैं। (श्रीमद्भा० ३।७।१७)

रूसोका 'प्राकृत पुरुष' पहली कोटिका था, भीष्मका 'कृतयुगी पुरुष' दूसरी कोटिका। लॉक एवं रूसोका 'प्राकृत स्वर्णयुगसे पतित, समाजके पुरुष' तथा हाब्सका 'प्राकृतिक पुरुष' अपनी सुख-शान्तिके लिए आपसी विचारसे ही राज्यनिर्माण करते हैं, परन्तु भीष्मके 'धर्मराजसे पतित मनुष्य' ब्रह्माकी शरण जाकर राजनीति-शास्त्र प्राप्त करते हैं और विष्णुसे योग्य शासक प्राप्त करते हैं। फिर उससे समझौता करते हैं कि वह कभी भी नीतिशास्त्रके नियमोंका उल्लङ्घन नहीं करेगा। रूसोद्वारा कथित राज्यकी आधारशिला लोगोंकी 'सामान्येच्छा' है, किन्तु भीष्मके राज्यकी आधारशिला ब्रह्माद्वारा निर्मित 'विधिशास्त्र'। इस तरह भीष्मके राज्यका आधार पवित्र एवं श्रेष्ठतम विधि है।

भीष्मके दोनों ही वर्णनोंकी एकवाक्यता करके ही उनकी व्यवस्था समझी जा सकती है। दोनों वर्णनोंका दो अर्थ मानना सर्वथा असंगत है। दोनोंकी एकवाक्यतासे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम कृतयुगमें वेदादि शास्त्र तथा तदुक्त ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न मनुष्य राजादि विहीन धर्मराज्यमें ही रहते थे। सब धर्म-नियन्त्रित वेदज्ञ तथा धर्म-ब्रह्मज्ञ थे। सब सुखी, शान्त, संतुष्ट एवं विविध वैभवोंसे पूर्ण थे। कालक्रमसे प्राक्तन कर्मानुसार आसुरी वृत्तियोंका जागरण हुआ। दैवी वृत्तियोंके अभिभव हो जानेसे उनका पतन हुआ और फिर उस अवस्थासे खिन्न होकर पुनः धर्मनियन्त्रित राज्यकी स्थापनाके लिए ब्रह्माकी रायसे राजनीति-शास्त्र ग्रहण किया। फिर उसे पूर्णरूपसे कार्यान्वित करनेके लिए विष्णुसे राज्य प्राप्त किया और उसको तथा अपनेको वचनबद्ध करके सीमित शर्तोंके साथ सामाजिक समझौता या सोशल-कंट्राक्ट-थ्योरीके अनुसार धर्म-नियन्त्रित राजाका राज्य स्थापित किया।

•

कपिलोपदेशके अन्तर्गत एक श्लोकके अंशकी व्याख्या

'मद्रचनानुचिन्तया'

स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती

★

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद् दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः॥
(३।२५।२६)

'भक्ति होनेपर पुरुषको देखे-सुने सब ऐन्द्रियक भोगोंसे वैराग्य हो जाता है। तब वह योगयुक्त हो चित्तको एकाग्र करनेके प्रयत्नमें लगता है और बराबर मेरी रचनाके चिन्तन-जैसे सरल योगमार्गोंसे प्रयत्न करता है।'

'मद्रचनानुचिन्तया'—भगवान्की रचना—उनका शिल्पनैपुण्य देखो। सूर्य ऐसा दीपक है कि यदि वह केवल दो फुट पृथिवीके और समीप होता तो पृथिवी जल जाती। यदि चन्द्रमा दो फुट और पास होता तो समुद्रका ज्वार पृथिवीको डुबा देता। कितना अद्भुत गणित है सृष्टिकर्ताका।

आपके नेत्रके सम्मुख सृष्टि है। इसकी अद्‌भुत रचनापर आपका ध्यान जाता है? ऐसी कोई संसारकी वस्तु है जो आपके प्रियकी बनायी न हो?

एक बार एक सज्जन अपनी पुत्रीके साथ गुरु नानकके समीप गये। गुरु साब एकटक उस लड़कीको देखने लगे तो पितासे रहा नहीं गया। वह बोला—'आप इसमें क्या देखते हैं?'

गुरु—'कर्तारकी कारीगरी देखता हूँ।'

यह भक्तकी दृष्टि है कि लड़की नहीं देखते, कर्तारकी कारीगरी देखते हैं।

'मद्रचनानुचिन्तया'—मम रचनाया अनुचिन्ता यस्यां तादृश्या भक्त्या, मेरी रचनाका अनुचिन्तन जिसमें है, उस भक्तदृष्टिसे सृष्टिको देखो।

एक महात्मा लखनऊमें रहते थे। उनके समीप एक सज्जन अपने बगीचेके फूलोंका गुलदस्ता लेकर आये। वे महात्मासे यह पूछने आये थे कि—'घरद्वार सम्हालें या छोड़ दें।' महात्मा गुलदस्ता देखनेमें तल्लीन हो गये। उस सज्जनने थोड़ी देर प्रतीक्षा की। महात्माको अपनी ओर ध्यान न देते देखकर बोले—'गुलदस्ता आप देख रहे हैं, यह बड़ी कृपा, किन्तु मुझे तो आप भूल ही गये।'

महात्मा—फेंक दूँ इसे?'

वे घबड़ाकर बोले—'नहीं-नहीं। बड़े प्रेमसे मैंने इसे बनाया है।'

महात्मा—'तब इसीको देखूँ ?'

वे—'नहीं, मेरी ओर भी देखिये।'

महात्मा—'तुम्हारे प्रश्नका यही उत्तर है। यह संसार ईश्वरने बड़े प्रेमसे बनाया है। अतः इसकी ओर भी देखो और इसके बनानेवालेकी ओर भी देखो।

पृथिवी देखकर आपको स्मरण आता है कि इसे वराह भगवान्ने स्थापित किया है ? इसी धरतीपर श्री रघुनाथ 'धूसर धूरि भरे तन आये' और यही पृथिवी है जिसपर गोपाल घुटनों चलता था। समुद्र देखकर आपको शेषशायीका स्मरण आता है ? यह भगवान्की ससुराल है। भगवान् इसमें शेषशय्यापर सोते हैं। सूर्य-मंडलमें भगवान् हैं। चन्द्रमण्डलमें भगवान् हैं। वायु विराट् पुरुषका श्वास है। शरीरमें वायु लगनेपर कभी स्मरण आता है कि हमारे इतने समीप भगवान्का मुख है ? ये बातें मनमें आने लगे, तब समझो कि भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। सृष्टिके कर्ता कारीगरका हाथ सर्वत्र दीखना चाहिए। उसे देखने, उससे मिलनेकी उत्कण्ठा होनी चाहिए।

> हे देव हे दयित हे भुवनैकबन्धो
> हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो।
> हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम
> हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे॥

वह रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी श्याममूर्ति हमारे नेत्रोंके सम्मुख कब आयेगी ? जीवनमें वह क्षण कब आयेगा ? हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणासिन्धु ! हे स्वामी ! हे त्रिभुवनबन्धु ! हे परम सुन्दर ! कब तुम मेरे नेत्रोंके सम्मुख आओगे !

यह उत्कण्ठा-प्यास जगे प्राणोंमें। आप विश्वास कीजिये कि ईश्वर है, सच्चा है और ईश्वरका दर्शन इन्हीं नेत्रोंसे होता है। जितना सत्य यह जगत् है, उससे अधिक सत्य परमात्मा है।

डाक्टर कहते हैं—'हम हृदय बदल सकते हैं।' जब आप हृदय बदलते हो तो क्या उस व्यक्तिकी स्मृतियाँ और भावनाएँ बदल जाती हैं ? ऐसा तो नहीं है। यह तो एक मांस-खण्ड है, जिसे आप बदलते हो। हृदय हम कहते हैं भावनाओंके आधारको। वह बदला नहीं जाता।

'मद्रचनानुचिन्तया'—सृष्टिके रूपमें यह परमात्माका कौशल सामने है। एक-एक वस्तुमें उनकी विलक्षण निपुणता है। आप नलके जलका टैक्स देते हो, पंखेके चलानेका टैक्स देते हो। किन्तु वर्षाके जलका टैक्स है ? श्वास लेनेकी वायुपर कोई कर है ?

'यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।' वेदान्तीको भी यावज्जीवन वेदान्त, गुरु तथा ईश्वरकी सेवा करनी चाहिए; क्योंकि ईश्वरने अन्तःकरण शुद्ध किया, गुरुने हमारे जीवनका निर्माण किया, वेदान्त शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त हुआ। इनके प्रति कृतघ्न हो जाओगे तो ज्ञान प्रतिबद्ध हो जायगा। अतः इनके प्रति कृतज्ञ बने रहना चाहिए।

अन्न, वस्त्र, गौ आदि वतुओंके देनेकी क्रिया जब धर्म और वस्तुओंके संयोगसे सम्पन्न होती है, तब उनसे मन पवित्र होता है। जब किसीको कुछ देकर वदलेमें कुछ लाभ इसी लोकमें चाहते हैं, तब धर्म विकृत हो जाता है। जैसे श्राद्धमें अपने रसोइयेको खिलाकर उसे रुपया, धोती दें और उससे सेवा चाहें। वस्तु, क्रिया, विधि, सद्भाव तथा संकल्प के सम्बन्धसे धर्म होता है। मीठे शब्दका दान भी धर्म है।

परमात्मा तथा जगत्के तत्त्वका विधिवत् विचार करनेसे ज्ञान होता है। मनमाने ढंगसे विचार करनेसे ज्ञान नहीं होता। योगमें वस्तुकी आवश्यकता नहीं, क्रियाकी आवश्यकता नहीं, संकल्पकी आवश्यकता नहीं और विचारकी भी आवश्यकता नहीं। वस मनको रोक दो। इन सवसे भक्ति विलक्षण है। इसमें न ब्रह्मविचार है, न मनोनिरोध, न वस्तु देना और न क्रिया करना। भक्ति प्रेमात्मिका वृत्ति है। भक्ति यह है कि एक-एक पदार्थमें, क्रियामें भगवान्का स्मरण हो।

एक महात्माको किसीने केला दिया उन्होंने केलेको छीला, वस वे तो केला खाना भूल ही गये। उनके नेत्रोंसे अश्रु-प्रवाह चलने लगा। वे केलेको ही देखते रह गये। देनेवालेसे पूछा—'केलेके भीतर इतना उत्तम हलवा किसने रखा? किसने छिलकेसे उसकी ऐसी रक्षा की कि मक्खी, मच्छरका मुँह यहाँ नहीं पहुँच सका? वह मुझसे बहुत प्रेम करता होगा?'

'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन'—(श्रुति)

उसके सृष्टिरूप वगीचेको लोग देखते हैं; किन्तु उसे कोई नहीं देखता। 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्' (ब्रह्मसूत्र) कभी भी अज्ञातरूपसे अपने आप इतनी उपयुक्त, समझदारीसे बनी रचना नहीं हो सकती। लेकिन अनुमानसे जगत्कर्ता नहीं जाना जाता। अनजान रूपसे प्रकृति बदलती रहती है और स्वयं सब बन जाता है—ऐसा नहीं हो सकता।

खाया भोजन कैसे पचता है? उससे बना रस शरीर कैसे चूस लेता है? श्वास कैसे चलती है? यह शरीर ही अद्भुत यन्त्र है। हमारे खाये अन्नसे केवल रक्त, मांस या शक्ति ही नहीं वनती, उससे मन भी वनता है, बुद्धि वनती है। अन्नका बुद्धि वन जाना क्या अपने-आप सम्भव है? विज्ञान अभी तक रक्त भी नहीं बना सका है। वस्तुतः विज्ञान केवल आकृति वनाता है, धातु नहीं। आकाश, वायु आदि विज्ञान नहीं वनाता। जो यह सब बनाता है, उस रचनाकारका चिन्तन करो।

हम प्रतिदिन सो जाते हैं तो जगाता कौन है? नींद कैसे आती है? कौन निद्रा भेजता है? संसारमें किसी वस्तुको देखा—मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता—सवमें अद्भुत कौशल है। आपके पाँच पुत्र हों और उनके पाँच-पाँच सन्तान हों। यह क्रम सौ पीढ़ी चले तो आपका ही नाम ब्रह्मा हो जायगा। सृष्टिमें यह जो अरबों प्राणी हैं, सृष्टिमें वृद्धिका यह बीज किसने डाला? आम कितनी पीढ़ीसे चला आ रहा है। एक फूल सड़ता है तो कितने कीड़े वन जाते हैं। इस प्रकार सृष्टिमें सर्वत्र भगवान्का हाथ देखो।

ऐसा करना सरल न लगे तो दूसरे क्रमसे चिन्तनका स्वभाव बनाओ। मान लो कि आप हाथमें एक केला लेते हो। आपको केलेको देखकर यह कथा स्मरण आनी चाहिए—श्रीकृष्णचन्द्र जब पाण्डवोंके सन्धिदूत बनकर हस्तिनापुर गये तो दुर्योधनने उनके स्वागतके लिए महल सजाया था। बड़ी तैयारी की थी। श्रीकृष्णने दो टूक कह दिया—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च त्वं प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

'दुर्योधन जी! प्रेमसे कोई खिलाये तो खा लें या हमें भोजन न मिलता हो—हम भूखे हों तो जो दे, उसका खा लें। किन्तु तुम तो प्रेमसे खिलाते नहीं; घूस दे रहे हो और हम भूखे नहीं हैं, अतः तुम्हारे घर खाने नहीं जायँगे।'

दुर्योधनके आमन्त्रण होनेपर भी नहीं गये उसके घर और विदुरजीके घर स्वयं पहुँच गये। विदुर-पत्नीको घरमें और कुछ नहीं मिला तो केला खिलाने लगीं। इतना प्रेमका आवेश कि केलेका गूदा फेंकतीं जायें और छिलका देती जायँ। श्रीकृष्ण वह केलेका छिलका खाते थे। आपके हाथमें जो केला है यह भी तो उसी केलेके वंशमें है—यह स्मरण करें।

संस्कृतमें एक ग्रन्थ है—'सुश्लोकलाघवम्', उसके ग्रन्थकर्तासे किसीने पूछा—'आम्र इतना मीठा क्यों है?' ग्रन्थकर्ता बोले—'सोऽयं रामपद-प्रसंग-महिमा लोके समुज्जृम्भते।'—यह 'आम्र' नाममें जो 'राम' नामके अक्षर 'आ म र' 'र आ म' हैं, इनके आनेकी महिमा है।'

मेघ देखकर आपको 'मेघश्याम' और कमल देखकर 'कमललोचन' का स्मरण होना चाहिए। एक बौद्ध ग्रन्थमें एक प्रश्न उठाया है—'पशुमें भी मन होता है और मनुष्यमें भी मन होता है। जब 'मनायतन' दोनोंमें है, तब दोनोंके शरीरमें एवं मनमें अन्तर क्यों है?' मनमें तीन बातें होती हैं द्वेष, लोभ और मोह। जो इनको कम नहीं करता, उसका मन दुर्बल एवं चञ्चल हो जाता है। उसका मन निपुण भी नहीं होता। लोभी, मोही, द्वेषी लोग बेईमान, पक्षपाती और निष्ठुर होते हैं। उनमें स्वयंको रोकनेकी शक्ति नहीं होती। वह एक स्थानपर टिक नहीं सकता। उसमें सूक्ष्म विचारोंका उदय नहीं हो सकता। ऐसा मनुष्य अगले जन्ममें पशु होगा; क्योंकि पशुके लिए मनको रोकना आवश्यक नहीं। जहाँ आहार दीखा, टूट पड़े। क्रोध आया, लड़ पड़े। चित्तमें लोभ, द्वेष, मोहकी प्रधानतासे ही तो वर्तमान जीवनमें भी मनुष्य पशु-तुल्य ही है। जो लोभ, मोह, द्वेषको रोकते हैं, उनका मन सबल बनता है। वह स्थिर तथा परमार्थ-विचारमें पटु हो जाता है। जिसके मनमें लोभ, मोह, द्वेष अधिक हैं, वह ईश्वरका भक्त नहीं है। मनुष्य जब अलोभ, अमोह, अद्वेषका अभ्यास करता है, तब उसके मनमें आत्मबल, एकाग्रता तथा वस्तुको समझनेका सामर्थ्य आता है।

हम मानवतासे पशुताकी ओर जा रहे हैं। मन पशु बन चुका तो बाहरी देह मनुष्य बना कबतक घूमेगा? आप वस्तुतः मनुष्य बनना चाहते हैं तो द्वेष, मोह, लोभ छोड़कर मनको ईश्वरके चिन्तनमें लगाइये। इससे मन एकाग्र, बलवान् तथा विचार-समर्थ होगा।

'मद्वचनानुचिन्तया'—ऐसी कोई क्रिया नहीं होती, जिसमें भगवान्‌की दया, करुणा, वात्सल्य न हो। मनुष्यकी बुद्धि दूसरी ओर लगी रहती है, अतः इस लीलामें भगवान्‌की कृपा समझमें नहीं आती। कभी-कभी किसीसे वियोग होनेमें लाभ होता है। कभी पैसा खोनेमें भी लाभ होता है। कभी-कभी किसीके मरनेमें भी लाभ होता है। संन्यासी होना त्यागमय जीवन है।

एकबार मैं घरसे भागकर चित्रकूट जा रहा था। मार्गमें एक परिचित मिले। बोले—'अकेले जा रहे हो या कोई साथ है?'

मैंने कहा—'मैं हूँ और मेरा भगवान् है।' जब दूसरे साथ होते हैं, तब भगवान्‌का पता नहीं लगता। हम अकेले होते हैं तब भगवान्‌का पता चलता है कि वह हमारी कैसे सहायता करता है। मुझे ऐसे स्थानपर रोटी मिली है, जहाँ रोटी मिलनेको कोई आशा नहीं थी। भूखे थे तो मार्गमें चलते-चलते किसीने बुलाकर खिला दिया। जिसने आपको मुख दिया, पेट दिया, उसीने रोटी दी है। आपकी एक-एक चेष्टा भगवान्‌की दृष्टिमें है। जीवनमें जो भी घटना घटे, उसमें भगवान्‌का हाथ—भगवान्‌की करुणा दीखे—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

भगवान्‌की कृपाको भली प्रकार देखता हुआ, अपने शुभाशुभ कर्मफलको भोगते हुए, हृदय, वाणी, शरीरसे जो भगवान्‌के सम्मुख नत रहता है, मुक्तिपदका वह स्वत्वाधिकारी है।

जीवनकी किसी घटनाका कर्ता कोई मनुष्य नहीं है, ईश्वर है। अतः जब तुम किसी काम करनेवालेको गाली देते हो तो उस काम करनेवालेको गाली नहीं देते, गाली सीधे ईश्वरको जाती है। एकबार किसी बड़े पण्डितने कोई बात कही। बात मुझे जँची नहीं। मैंने कह दिया—'किस मूर्खने ऐसा कहा है?' उस पण्डितजीने मेरे गुरुजीका नाम लेकर कहा—'उन्होंने कहा है?'

मैं—'तब तो ठीक कहा है।'

पण्डित जी—'पहले गाली दे दी, अब कहते हो—ठीक कहा है। इसी प्रकार हम कार्योंको दूसरोंका किया मानकर गाली देते हैं। जैसे खीर खिलानेवाला चटनी, नमक, मिर्च भी परसता है कि इन्हें बीच-बीचमें खानेसे खीरका स्वाद बढ़ जायगा, वैसे ही भगवान् बीच-बीचमें अपमान, दुःख, अभाव, रोग भेजते हैं। इन्हें हमारे अभिमानको तोड़नेके लिए भेजते हैं।

जन्माष्टमी भगवान्‌का अवतार-काल है। शरद-पूर्णिमा रासका दिन है। इसी प्रकार रामनवमी, शिवरात्रि आदि भगवत्स्मरण करानेवाले काल हैं। प्रत्येक महीनेमें एकादशी, द्वादशी, प्रदोषादि आते हैं। अयोध्या, वृन्दावन, वाराणसी आदि देश भगवत्स्मरण करानेवाले हैं। सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, नरसी मेहता, सूरदास, तुलसीदास, गुरुनानक, आल्वार, नायनार आदि सन्तोंको भगवान्‌ने हमारे कल्याणके लिए कृपा करके पृथ्वीपर भेजा। भगवान्‌ने हमें हृदय दिया कि उनसे प्रेम करें। बुद्धि दी कि उनके विषयमें सोचें।

आपको एक सूची बनानी चाहिए कि प्रतिदिन आप कितनी देर अपने और अपने परिवारके लिए काम करनेमें लगाते हैं? कितना समय समाज तथा दूसरोंको देते हैं तथा कितना समय ईश्वरके लिए लगाते हैं? यदि आठ घण्टे अपने और परिवारके लिए लगाते हैं तो दो घण्टे समाजके लिए तथा दो घण्टे ईश्वरके लिए भी लगाइये। सारा जीवन स्वार्थके लिए ही लग जाय, यह कैसा जीवन है?

भजन हाथसे-जीभसे ही नहीं, पाँवसे भी सम्भव है। एक अच्छे महात्मा हैं। वे बोलते नहीं, किन्तु सब समय बैठे तो रह नहीं सकते। उन्होंने पाँच-सात गजका गोवर्धन बना लिया है। उसकी १०८ परिक्रमा करते हैं। यह पैरसे भजन ही करना तो है। इससे घूमना भी हुआ जिससे स्वास्थ्य ठीक रहे और भजन भी हुआ। क्रिया कुछ करो, किन्तु हृदयमें भाव हो कि भगवान्‌के लिए कर रहे हो, तो वह भजन है। हाथसे भगवान्‌के लिए कुछ करो। मुखसे जप, पाठ, कथा करो। माला चढ़ाओ या पूजा-परिक्रमा करो। जिसने तुम्हें शरीर, हृदय, बुद्धि दी, परिवार दिया, खुशियाँ दीं, उसके लिए जीवनमें कुछ न किया जाय, यह तो भारी कृतघ्नता है। तुम्हारे पास बेटे-बेटीके लिए है, पति या पत्नीके लिए है, शरीरके लिए है, परन्तु ईश्वरके लिए कुछ नहीं है? जब हर बातमें भगवत्कृपा दीखती है, तब भक्ति होती है। एक है जो रातदिन तुम्हारी रक्षाके लिए सावधान रहता है। उस ईश्वरको देखो। पैसेके स्थानपर ईश्वरको चाहो। पैसा तो प्रारब्धसे मिलता है।

आपका उत्तराधिकारी चाहता है कि आप जल्दीसे जल्दी चाबी उसे दे दें। वह कहता है—'अब ये बुड्ढे हो गये, इन्हें अब भजन करना चाहिए। अब ये काम-धन्धेमें क्यों व्यस्त रहते हैं?' आप जिससे सबसे अधिक प्यार करते हैं, जिसे अपना सब कुछ दे जाना चाहते हैं, वह चाहता है—'आप शीघ्र दे जायँ।' आप मोहमें फँसे हैं। संसारके विषय नाशवान् हैं। ये एक दिन अवश्य छूटेंगे। एक सज्जन समाचारपत्र पढ़ रहे थे, बैठे-बैठे ही मर गये। एक स्वस्थ व्यक्ति काम कर रहे थे, सहसा नेत्र-ज्योति चली गयी। न विषयोंका हिसाब है कि वे कबतक रहेंगे, और न इन्द्रियोंका ठीक है कि वे कबतक काम करेंगी। न मनका पता है कि जो आज प्रिय लगता है, वह कल भी प्रिय रहेगा या नहीं? शरीरका भी ठीक नहीं कि कबतक रहेगा? यह भोगायतन देह नदीके कगार पर बैठा है। आग लग गयी तब कुआँ खोदने लगना समझदारी नहीं है। पहलेसे कुआँ होगा तब आग बुझेगी। अतः जीवनमें पहलेसे तैयारी करो।

भक्तिके दो पुत्र हैं—ज्ञान और वैराग्य। जितनी-जितनी भक्ति मनमें आयेगी, संसारसे उतना वैराग्य होगा और भगवान्‌के विषयमें उतना ज्ञान होगा।

आप घड़ीको वाटरप्रूफ रखते हैं, शाकप्रूफ रखते हैं कि कभी भींग जाय या हाथसे गिर जाय तो खराब न हो, किन्तु अपने हृदय और मस्तिष्कको सुरक्षित बनाकर नहीं रखते? उसकी यही सुरक्षा है कि उसे भगवान्‌के चरणोंमें लगा दो। यदि कहीं संसारमें हृदय लगाओगे तो दुःखी होगे। अतः ईश्वरका चिन्तन करो।

●

तुमको चाहता हूँ

कामनाएँ साथ हैं अनगिन अपरिमित,
किन्तु फिर भी नाथ! तुमको चाहता हूँ।

[१]

मैं तुम्हारा अंश हूँ तुम एक अंशी,
वंश तुम सम्पूर्ण, मैं हूँ एक वंशी।
दे अधरका स्पर्श मुझको धन्य कर दो,
हाथमें ले लो स्वभक्त अनन्य कर दो।
वासनाओं में यदपि अवगाहता हूँ,
किन्तु फिर भी नाथ! तुमको चाहता हूँ॥

[२]

वस्तुएँ तुम, देश तुम, सब काल तुम हो,
वासनाओंके बुने सब जाल तुम हो।
जो न तुम, वह वस्तु क्या जगमें कहीं है?
हरि, तुम्हारे जब सिवा कुछ भी नहीं है।
तब तुम्हें तज और किसको व्याहता हूँ,
तुम यही देखो कि तुमको चाहता हूँ॥

[३]

कामनाओंके सभी कमनीय तुम हो,
सिर नवावें हम कहीं नमनीय तुम हो।
मार्ग कोई भी कठिन हो या कुसुम हो,
नीरके नीरधि-सदृश गमनीय तुम हो।
तब कहाँ दीवार कोई ढाहता हूँ?
मैं सदा सब भाँति तुमको चाहता हूँ।

—'राम'

अमरत्व भी जिसके निमित्त प्रिय है, क्यों न हम उसीको खोजें ?

अमृतत्वके पथिक

डा० रामनाथ वेदालंकार

याज्ञवल्क्यकी दो पत्नियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी थी साधारण स्त्रियों-जैसी प्रज्ञावाली। एक दिन याज्ञवल्क्य बोले—'हे मैत्रेयी, मैं अब प्रव्रज्या ग्रहण करने लगा हूँ; आ, तेरा इस कात्यायनीके साथ बँटवारा कर दूँ।'

मैत्रेयीने पूछा—'भगवन्, धन-धान्यसे परिपूर्ण यह सकल पृथ्वी भी यदि मुझे मिल जाये, तो क्या उससे मैं अमर-पद पा जाऊँगी ?'

'नहीं, धन-संपदासे तू अमर तो नहीं हो सकती। जैसा साधन-संपन्न व्यक्तियोंका जीवन होता है, वैसा तेरा जीवन अवश्य हो सकेगा।' याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया।

मैत्रेयी बोली—'जिससे मैं अमृतत्व नहीं पा सकती, उसे लेकर भला क्या करूँगी ? सारी सम्पत्ति आप कात्यायनीको ही सौंप दें। मुझे तो वह वस्तु दीजिये, जिसे पाकर मैं अमर हो सकूँ।'

याज्ञवल्क्य उसके वचन सुनकर प्रसन्नतासे बोले—'मैं तुम्हें तुम्हारी अभीष्ट वस्तु ही दूँगा; जो कुछ मैं बताता हूँ, उसे ध्यानसे सुनो।' और उन्होंने कहना आरम्भ किया—

'पतिके लिए पति प्यारा नहीं होता, आत्मसुखके लिए पति प्यारा होता है। पत्नीके लिए पत्नी प्यारी नहीं होती, आत्मसुखके लिए पत्नी प्यारी होती है। पुत्रोंके लिए पुत्र प्यारे नहीं होते, आत्मसुखके लिए पुत्र प्यारे होते हैं।'

'धनके लिए धन प्यारा नहीं होता, आत्मसुखके लिए धन प्यारा होता है। पशुओंके लिए पशु प्यारे नहीं होते, आत्मसुखके लिए पशु प्यारे होते हैं। ब्राह्मणत्वके लिए ब्राह्मणत्व प्यारा नहीं होता, आत्मसुखके लिए ब्राह्मणत्व प्यारा होता है। क्षत्रियत्वके लिए क्षत्रियत्व प्यारा नहीं होता, आत्मसुखके लिए क्षत्रियत्व प्यारा होता है।

'लोकोंके लिए लोक प्यारे नहीं होते, आत्मसुखके लिए लोक प्यारे होते हैं। देवोंके लिए देव प्यारे नहीं होते, आत्मसुखके लिए देव प्यारे होते हैं। वेदोंके लिए वेद प्यारे नहीं

होते, आत्मसुखके लिए वेद प्यारे होते हैं। भूतोंके लिए भूत प्यारे नहीं होते, आत्मसुखके लिए भूत प्यारे होते हैं।'

'संक्षेपमें कहें, तो जो भी वस्तु प्यारी होती है, वह उस-उस वस्तुके लिए प्यारी नहीं होती, अपितु आत्मसुखके लिए ही प्यारी होती है।'

'इस प्रकार जब सब वस्तुएँ आत्माके लिए ही हैं, तो हे मैत्रेयी, आत्माको ही क्यों न पकड़ा जाये ? आत्माका ही दर्शन करो, श्रवण करो, मनन करो निदिध्यासन करो, हे मैत्रेयी ! आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे ये सब वस्तुएँ स्वतः विज्ञात हो जायेंगी।'

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि,
आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम्।

'कहीं दुंदुभि, शंख या वीणा बज रही हो, और उसके नादको कोई पकड़ना चाहे, तो उसके नादपर हाथ मारनेसे नाद पकड़में नहीं आ सकता। नादको वशमें करनेका एक ही उपाय है—दुंदुभि, शंख और वीणाको ही पकड़ लें। आत्मा ही दुंदुभि, शंख और वीणा है, हे मैत्रेयी ! और उसे बजानेवाला भगवान् है। समस्त पदार्थ और उनके सुख उस आत्मासे निकलनेवाले नाद हैं। जो उन पदार्थों और उनके सुखोंके पीछे भागता है, वह उन्हें नहीं पकड़ पाता। आत्माको या भगवान्‌को अधिगत कर लेनेसे सब पदार्थ और उनके सुख स्वतः अधिगत हो जाते हैं।

'जैसे नमकका ढेला अंदर-बाहर जहाँसे भी चखें, नमकीन रसका आगार (रसघन) होता है, वैसे ही यह आत्मा समस्त ज्ञान-ही-ज्ञान है, प्रज्ञानघन है। जो सांसारिक वस्तुओं और सांसारिक सुखोंको लक्ष्य न बनाकर आत्माके दर्शन करता है, वह पाञ्चभौतिक शरीरसे निकलनेके पश्चात् भगवान्‌को पा लेता है। यह आत्मा अविनाशी और अनुच्छित्तिधर्मा है। भगवान्‌के क्रोडमें रहता हुआ वह अपने आपको भगवान्‌से अभिन्न अनुभव करता है। अमर आत्मा अमृत-स्वरूप प्रभुको पा लेता है।'

यह उपदेश देकर याज्ञवल्क्यने कहा—'हे मैत्रेयी, यही अमृतत्व है। इस मार्गपर तू चलेगी, तो अवश्य अमृत-लाभ कर लेगी।' इतना कह याज्ञवल्क्य प्रव्रजित हो गये।

(बृहदारण्यक ४·५ के आधारपर)

श्रीकृष्णजन्म-स्थान कंसका कारागार नहीं, महल था—

क्या भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कारागारमें हुआ था ?

आचार्य पं० श्रीसीताराम चतुर्वेदी

★

सामान्यतः व्यापक रूपसे जन-साधारण और विद्वानोंका विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कंसके कारागारमें हुआ था, किन्तु श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कंसके राजभवनमें (मथुरामें) और हरिवंश-पुराणके अनुसार मथुरामें वसुदेवके घर हुआ था।

श्रीमद्भागवतके अनुसार नारदके यह समझानेपर कि सब देवता व्रजमें गोप-गोपी बनकर जन्म ले चुके हैं और ये सब तुम्हारे शत्रु हैं, कंसने शंकासे देवकी और वसुदेवको अपने घरमें (गृहे) कड़े पहरेमें रक्खा ओर एक-एक करके देवकीके पुत्रोंको मार डालने लगा—

देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे।
जातं जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया ॥ (भाग० १।६६)

'गृहे'का स्पष्ट अर्थ 'घरमें' है और 'निगृह्य निगडै:'का लाक्षणिक अर्थ अत्यन्त कड़े पहरेमें है। यदि वाच्यार्थ भी ग्रहण किया जाय तो अर्थ होगा बेड़ी डालकर। किन्तु 'कारागार' अर्थ किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

आगे चलकर यह बात स्पष्ट कर दी गयी है—

सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥
तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम्।
आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितो यन्न पुरेयमीदृशी ॥
(भाग० २।१९-२०)

[यद्यपि संपूर्ण जगत्के निवास-स्थान भगवान्ने देवकीमें अपना निवासस्थान बना लिया था, तथापि जैसे चारों ओरसे बंद आगकी लपटका और दूसरेको विद्या न देनेवाले

(ज्ञानखल) की विद्याका प्रकाश नहीं फैलता, वैसे ही कंसके भवनमें (भोजेन्द्रगेहे—कारागारमें नहीं) देवकीकी शोभा भी बाहर न फैल पायी ।

जब कंसने हरिगर्भा देवकीको देखा कि उसकी दीप्ति और भोली मुसकानसे सारा भवन (कारागार नहीं) जगमगा उठा है तो उसने समझ लिया कि मेरे प्राणघातक हरि अवश्य इसके गर्भमें आ गये हैं क्योंकि पहले देवकीमें कभी ऐसी प्रभा नहीं देखी गयी थी ।]

यहाँ भोजन्द्रगेहे (कंसके घरमें) और 'भवन शब्द स्पष्ट उद्घोष कर रहे हैं कि कंसने देवकीको अपने राजभवनमें ही दृष्टिबद्ध (नजरबन्द) कर रक्खा था कि वह कभी आँखसे ओझल न हो । इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णका जन्म राजभवनके सूतिकागृहमें हुआ था—

ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ।
यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाजनि नन्दजायया ॥
तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वपि शायितेष्वथ ।
द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः ॥
ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः ।

(भाग० १०।३।४७–४९)

[तब भगवत्प्रेरणासे जब वसुदेवजी बालकृष्णको लेकर सूतिकागृहसे (कारागारसे नहीं) बाहर निकलनेको हुए, उसी समय नन्दकी पत्नी यशोदाके गर्भसे योगमायाका जन्म हुआ।

योगमायाके कारण सब पहरेदार और पुरवासी गहरी नींदमें सोये पड़े थे । वे सब द्वारोंके बड़े-बड़े फाटक लोहेके अरगलों और साँकलोंसे बंद थे । उनसे बाहर निकलना कठिन था, फिर भी ज्योंही कृष्णको लेकर वसुदेव आये त्योंही द्वार स्वयं वैसे ही खुल गये जैसे सूर्य निकलनेपर अँधेरा दूर हो जाता है ।]

यहाँ 'सूतिका-गृह' शब्द स्पष्ट है । साथ ही उनपर कड़ा पहरा था, यही सिद्ध है कारागारकी बात नहीं ।

आगे भी जब वसुदेव गोकुलमें कृष्णको यशोदाके पास सुलाकर और उनकी कन्या लेकर लौटे तो बाहर-भीतरके द्वार सब पहले-जैसे हो गये और बच्चोंका रोना सुनकर 'गृहपाल'—(कारागारपाल, नहीं) जाग उठे । 'गृहपाल'का अर्थ 'घरका चौकीदार' है, जेलका सन्तरी नहीं ।

ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः ॥ (भाग० ४।३)

इसके पश्चात् जब कंसको समाचार दिया गया तब वह बिस्तरसे उठकर सूतिकाघरमें जा पहुँचा—

स तल्पात् तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः ।
सूतीगृहमगात् तूर्णं प्रस्खलन्मुक्तमूर्धजः ॥

(भाग० ४।३)

इससे स्पष्ट है कि देवकी सूतिकागृहमें थी, कारागारमें नहीं।

हरिवंशका विष्णुपर्व इस सम्बन्धमें और भी अधिक स्पष्टताके साथ इस तथ्यका समर्थन करता है। उसके अनुसार देवकी और वसुदेवपर केवल गुप्तचर लगा दिये गये थे, जो उनपर निरन्तर आँख लगाये रहें—

देवकी च गृहे गुप्ता प्रच्छन्नैरभिरक्षिता।
स्वैरं चरतु विश्रब्धा गर्भकाले तु रक्ष्यताम्॥
मासादीन्पुष्पमासादीन्गणयन्तु मम स्त्रियः।
परिणामे तु गर्भस्य शेषं ज्ञास्यामहे वयम्॥
वसुदेवस्तु संरक्ष्यः स्त्रीसनाथासु भूमिषु।
अप्रमत्तैर्मम हितै रात्रावहनि चैव हि॥
स्त्रीभिर्वर्षवरैश्चैव वक्तव्यं न तु कारणम्॥

(हरि० वि० १।३-६)

[देवकीको घरमें ही इच्छानुसार रहने दिया जाय, पर मेरे गुप्तचर उसपरगुप्तरूपसे दृष्टि रक्खे रहें और गर्भके समय तो सावधानी बरतें ही। हमारी स्त्रियाँ (देवकीके) रजोधर्मके महीने गिनती रहें। गर्भ पूरा होनेपर तो हम सब समझ लेंगे।

जब वसुदेव स्त्रियोंके साथ हों तो उनपर रात-दिन हमारा हित चाहनेवाली स्त्रियाँ और नपुंसक उनपर दृष्टि रक्खें और कभी कारण न बतावें।]

इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि देवकी और वसुदेव मथुरामें अपने घरमें ही रहते थे। उनपर गुप्तचर और राजभवनकी स्त्रियाँ छिपी दृष्टिसे उनकी गतिविधि देखती रहती थीं।

हरिवंश-पुराणके अनुसार नन्द भी मथुरामें ही रहते थे। कृष्ण-जन्म होनेपर वसुदेवजी वहीं (मथुरामें) रातको यशोदाजीके पास बालकृष्णको सुला आये और उनकी कन्या ले आये। उन्हें यमुना पार करके नहीं जाना पड़ा—

वसुदेवस्तु संगृह्य दारकं क्षिप्रमेव च।
यशोदाया गृहं रात्रौ विवेश सुतवत्सलः॥

(हरि० वि० ५।२६)

इतना ही नहीं, स्वयं वसुदेवने कंसके पास जाकर कन्या होनेकी सूचना दी और यह सुनकर वह वसुदेवके घरके द्वारपर जा पहुँचा—

उग्रसेनसुतायाथ कंसायानकदुन्दुभिः।
निवेदयामास तदा तां कन्यां वरवर्णिनीम्॥
तच्छ्रुत्वा त्वरितः कंसो रक्षिभिः सह वेगिभिः।
आजगाम गृहद्वारं वसुदेवस्य वीर्यवान्॥

स तत्र त्वरितं द्वारि किं जातमिति चाब्रवीत्।
दीयतां शीघ्रमित्येवं वाग्भिः समभितर्जयत्॥
ततो हाहाकृताः सर्वा देवकीभवने स्त्रियः।

(५–२८–३१)

इन सब उक्तियोंसे स्पष्ट है कि वसुदेव-देवकी अपने ही भवनमें मथुरामें रहते थे। केवल उनपर गुप्तचरोंकी गुप्त दृष्टि रहती थी। नन्दका गोधन यद्यपि गोकुलमें था तथापि वे मथुरामें भी रहते थे। वसुदेवकी पत्नी रोहिणी उन्हींके यहाँ गोकुलमें रहती थीं। उपर्युक्त विवरणसे यह भी ध्वनित होता है कि दोनों भवन बहुत पास-पास थे।

इसीके पश्चात् वसुदेवजीने नन्दको परामर्श दिया कि यशोदाको और इस बालकको लेकर गोकुल चले जाइये और वहीं हमारे पुत्र बलराम और इस बालक (कृष्ण) के संस्कार कीजियेगा—

प्रागेव वसुदेवस्तु व्रजे शुश्राव रोहिणीम्।
प्रजानां पुत्रमेवाग्रे चन्द्रात्कान्ततराननम्॥
स नन्दगोपं त्वरितः प्रोवाच शुभया गिरा।
गच्छानया सहैव त्वं व्रजमेव यशोदया॥

इन सब सूत्रोंसे यह निश्चित होता है कि भगवान् श्रीकृष्णका जन्म कंसके राजभवनमें या वसुदेवजीके घर हुआ था, कारागारमें नहीं।

●

भगवान्‌की लीला-कथा

जो नित्य-निरन्तर भगवान्‌की लीलाकथाओंको सुनते गाते तथा स्मरण करते रहते हैं, वे ही यथासंभव शीघ्र श्रीभगवान्‌के चरणरविन्दोंको प्राप्त होते हैं, जहाँ पहुँचते ही उनके जन्म-मरणकी परम्पराका अन्त हो जाता है, भवसागरका प्रवाह सूख जाता है।

●

भारतीय संस्कृतिके दिवंगत प्रातिशाख्य

कृष्णदास बाबा

डॉ० श्रीभगवान सहाय पचौरी एम० ए० पी-एच० डी०

कृष्णदास बाबा भारतीय संस्कृति, धर्म-साहित्य और इतिहासकी अक्क्षुण्ण ज्ञानधाराकी उस लुप्तप्राय परम्पराके प्रातिशाख्य आचार्योंमेंसे एक थे, जिन्होंने जनकोलाहलसे दूर रहकर स्तुतियों, उपाधियों और धनैषणा एवं लोकैषणाके प्रति उदासीन भाव ग्रहणकर सर्वथा निःसंग और निष्काम भावसे लोकमानसको निःश्रेयसका सन्देश दिया। अनास्था और अश्रद्धाके इस अन्ध युगमें, जब प्रतिभा, प्रज्ञा आत्मप्रचारके समक्ष पराभूत हैं, पाण्डित्य, दम्भ और पाखण्डसे क्षुद्र हो रहा है, और संसारका अहम् सभी क्षेत्रोंमें नेतृत्व कर रहा है, कृष्णदास बाबा-जैसे ऋषिकल्प भागवतोंकी ओर दृष्टिपात करनेका किसे अवकाश होगा? किन्तु वस्तुतः ऐसे ही निष्काम व्यक्तित्वोंके बलपर भारतीय संस्कृति जीवित है। इन्हींके पुण्योंपर धर्म टिका हुआ है। इन्हीं पुण्यश्लोक महात्माओंके वरदानस्वरूप हमारा 'नामोनिशां' शेष है, अन्यथा 'यूनान मिस्र रोमां सब मिट गए जहाँसे।' १८ नवम्बर १९७०के दिन बाबाका भौतिक देह पंच तत्त्वमें जा मिला। उन्हींकी भाषामें कहूँ तो वे गोलोकको पधार गये; वे नित्य लीलास्थ हो गये अथवा वे अपने इष्टदेव परमाराध्य महाप्रभु चैतन्यके दिव्य वपुमें लीन हो गये; श्रीरूपगोस्वामीपादका स्तवन करते-करते वे उनके नित्य-परिकरमें मिल गये। उनका अधूरा कार्य कौन पूरा करेगा अब? उनके अर्द्धप्रकाशित 'षट्सन्दर्भको कौन प्रकाशित करेगा, 'अलंकार-कौस्तुभ' और 'हरिनामामृत व्याकरण'के पन्ने खुलेके खुले पड़े हैं; उनके लाखों अनूदित ग्रन्थोंको विश्वके कोने-कोनेमें कौन पहुँचायेगा, कौन उनके बिखरे ग्रन्थागारको समेटनेमें समर्थ होगा, अब 'हंसदूत'को झूमझूमकर हमें कौन सुनायेगा? लगता है बाबाजीकी सिद्धवाणी भागवत रस बहाते-बहाते कुछ क्षणोंको ही मौन हो गयी है, अभी-अभी फिरसे अपनी टूटी कड़ीको पूरा करेंगे, वे परन्तु अपनी ही भाषामें वे व्रजके 'लता-पता'में लीन हो चुके हैं, अपने 'लाड़िली लाड़ले'को खोजने, अपने 'महाप्रभु'के पास इस लोकसे इतनी दूर वह जा चुके हैं कि हमें वे अब इस रूपमें फिर नहीं मिलनेके। हम उनकी सरस वाणीको सावधान सुन रहे थे कि वे चिरनिद्रालीन हो गये—

'जमाना बड़े गौरसे सुन रहा था,
तुम्ही सो गये दास्तां कहते-कहते ।

वावा कृष्णदास वालसंन्यासी थे। प्रायः १२ वर्षकी अल्पायुमें ही ये भगवदनुरागी हो गये थे। वंगभूमिके उद्धवपुर नामक ग्राममें एक सनातनधर्मी वैष्णव ब्राह्मण-परिवारमें इनका जन्म (उन्हींके कथनानुसार) आजसे प्रायः ६९ वर्ष पूर्व हुआ था। इनके पिता हेमचन्द्र वावू थे, जो ४-५ परिवारी जनोंका उदर पोषण करते थे। कृष्णदासका प्रकृत नाम धरनीदास था। इनके एक वड़े भाई और एक चाचा भी थे। वालक धरनी अस्वस्थ और क्षीणकाय था। सदा मौन रहता और दूसरोंको निर्निमेष देखा करता था। पिताने अक्षरारम्भ कराया और बंगला पढ़ानेको समीपवर्ती एक पाठशालामें भर्ती करा दिया। कठिनाईसे प्रारम्भिक शिक्षा वह कर पाया था, कि वह नीलाचल-धामकी यात्राको चल दिया। धाम अधिक दूर नहीं था। यही कोई ढाई तीन मीलकी दूरी थी। साथमें अन्य परिवारीजन एवं उनके सखा भी थे। महाप्रभुके विषयमें उसने वहुत कुछ सुना। वृन्दावन-धामकी चर्चा भी यहीं उसने सुनी। पूरा संस्कारोंने जोर मारा और उस वालकने वृन्दावन जानेका संकल्प कर लिया। जहाँ चाह है, वहाँ राह है। प्रसिद्ध वैष्णव महात्मा रामदासके भक्त राधादास नामक एक सन्तके साथ धरनीदास वृन्दावनको चल दिये। घरवालोंको इसकी सूचना वालकने न होने दी। वृन्दावन आकर इस वीतरागी वालकने संस्कृतका ज्ञान प्राप्त किया। गौड़ीय महात्माओंके प्रसाद और अपने स्वाध्याय-अध्यवसाय द्वारा कुशाग्रबुद्धि, स्मरणशक्तिके धनी धरनीने कई वैष्णव ग्रन्थोंको कंटस्थ कर लिया। सिद्धान्तकौमुदी इनको पूरी याद थी। प्रायः २० वर्षकी अवस्थामें इन्होंने वैष्णव साहित्यमें अच्छी गति प्राप्त कर ली थी। ये रामदासजीके शिष्य हो गये थे। श्रीरामदासजी राधाकुण्ड, मथुराके पास एक कुटीमें रहते थे। अपने अन्य गुरुभाइयोंके साथ धरनी (अव कृष्णदास) गुरुचरणोंमें बैटकर अध्ययन करते थे। महाप्रभुकी लीलाओंका अनुसरण करते-करते भावविभोर हो जाते और नृत्य करने लगते। कृष्णदास पूज्यपाद रूप-जीव-सनातनजीके जीवनसे वहुत प्रभावित हुए। साथ ही परम परिव्राजक श्रीनारायण भट्टजीके कार्योंसे उनको भारी प्रेरणा मिलती थी। श्रीरूपगोस्वामी आदि द्वारा आदेशित होकर श्रीनारायण भट्टने व्रजके लुप्तप्रायः तीर्थों और प्रभु-विग्रहोंका प्राकटच किया था। कृष्णदासने उन सभी तीर्थों, उपतीर्थों, व्रजके सभी उपास्य वनों, उपवनों, महावनों, सरोवरों, कुण्डोंके दर्शन किये। यात्रा और अध्ययन करते-करते इनका ध्यान लुप्तप्राय वैष्णव साहित्यपर गया। व्रजमण्डलमें सैकड़ों हस्तलिखित वैष्णव-पोथियाँ उनके देखनेमें आयीं। यह समूचा साहित्य संस्कृत और बंगलामें था। इसका जनतामें कोई प्रचार न था। गुरु-आदेशसे उन्होंने इस साहित्यको हिन्दीमें अनुवाद करके प्रकाशित करानेका संकल्प किया। अपने जीवनके पचास वर्षोंमें बाबाने यही काम किया।

आरम्भमें ये वृन्दावनसे गोकुल चले गये और वहीं एक कुटीमें रहे। दाऊजी भी वहाँसे आते-जाते रहे। अन्तमें जमकर ये कुसुमसरोवर पर ग्वालियरवाले मन्दिरमें रहे। सन्त श्रीविश्वम्भरदासके सहयोगसे इन्होंने यहाँ हिन्दीकी प्रशंसनीय सेवा की। मन्दिरके ऊपरी भागमें

इनका ग्रन्थागार था। इसमें संस्कृत, वंगला, विहारी आदि भाषाओंके ग्रन्थोंका दुर्लभ संग्रह था। भोजपत्रपर लिखी दो पोथियाँ भी इसमें थीं। हिन्दीके भी प्रकाशित और हस्तलिखित ग्रन्थोंका बाबाने अच्छा संग्रह किया था। ग्रन्थ बड़ी सुरुचिसे अलमारियोंमें सुरक्षित रहते थे। यहीं इनके धनी-मानी भक्तोंने एक छोटेसे मुद्रणालयकी व्यवस्था कर दी थी। बाबा स्वयं ही हो लिखते और छापते थे। अनेक भगवद्भक्त उनकी अर्थ-सहायता करते थे जिससे बाबा जीने सन् १९६६ ई० तक कुल मिलाकर १५३ ग्रन्थ प्रकाशित किये थे। इन ग्रन्थोंको बाबा जी निःशुल्क पुस्तकालयों, विद्यालयों और विद्वानोंको वितरित करते थे। इनमें-से आधेसे अधिक ग्रन्थ निःशेष हो गये थे। हमारे देखनेमें इनका 'माधुरीवाणी' (श्रीरूपगोस्वामी चरणके प्रिय शिष्य श्रीमाधुरीकृता) सन् १९३९ ई० का प्रकाशन आया है। इसके अन्तिम पृष्ठ पर मोहिनीवाणी, (गदाधर भट्टजी), सुहृदवाणी (श्रीसूरदास मदनमोहन), अर्चाविधि, वल्लभरसिक जीकी वाणी, प्रेम-सम्पुट (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती), भक्तिरसतरंगिणी (श्रीनारायण भट्ट), श्रीहरिलीला (श्रीब्रह्मगोपाल), श्रीगोतगोविन्द पद (श्रीरामराय), श्रीगीतगोविन्द (श्रीवैष्णवदास) के प्रकाशित होनेकी सूचना भी मुद्रित है। साथ ही 'व्रज भक्तिविलास', 'गोविन्दभाष्य', 'भागवत-भाषा', और 'भक्ति ग्रन्थावली'के प्रकाशित होनेकी भी सूचना इसमें मिलती है। 'श्रीगीतगोविन्द' (रामरायकृत) पर प्रकाशन-तिथि नहीं है। केवल 'गौर पूर्णिमा' लिखा मिलता है। ऐसी दशामें बाबाजी द्वारा प्रकाशित प्रथम ग्रन्थका पता नहीं चलता। इससे यह सहज ही अनुमानित होता है कि सन् १९३० के आस-पास इन्होंने ग्रन्थ-प्रकाशन करना आरम्भ कर दिया था। 'गीतगोविन्द' इसका प्रमाण है। यह माडर्न प्रेस आगरामें छपा है। तबतक बाबाका प्रेस नहीं लग पाया था। बाबाजी द्वारा अनूदित-सम्पादित और प्रकाशित उपलब्ध ग्रन्थोंकी कालक्रमानुसार तालिका इस प्रकार है :— गीतगोविन्द, गीतगोविन्द पद, हरिलीला, भक्तिरस-तरंगिणी, प्रेम-सम्पुट, वल्लभरसिक जी की वाणी, अर्च्चाविधि, सुहृद्वाणी, मोहिनीवाणी, माधुरी-वाणी, रासलीलानुकरण और नारायण भट्ट, प्रेमभक्ति-चन्द्रिका, प्रियादासजीको ग्रन्थावली, श्रीचैतन्यचन्द्रामृतम् तथा संगीत-माधवम्, श्रीराधारमण-रससागर, व्रजभक्ति-विलास, निकुंजरहस्यस्तव, नवरत्न, महाप्रभु-ग्रन्थावली, ग्रन्थरत्नपटकम्, श्रीगोवर्द्धन भट्ट-ग्रन्थावली, श्रीनारायण भट्ट-चरितामृतम्, श्रीगदाधर भट्टकी वाणी, मथुरामाहात्म्यम्, व्रजमण्डलदर्शन, मुरलीमाधुरी, श्रीकिशोरीदास जीकी वाणी, भाषा-भागवत, कहानी-रहसि, कुँवरिकेलि, ग्रन्थ-रत्नत्रयम्, व्रजोत्सव-चन्द्रिका, श्रीगौरनामरस चम्पू, लघुगोपालचम्पू भाषा, ब्रह्मसंहिता-दिग्दर्शिनी टीका, अष्टधाम-स्मरण, मंगल-भाषा, व्रजभाषा-ग्रन्थत्रय, ग्रन्थरत्नत्रिकम्, गोविन्दलीलामृत-भाषा, श्रीमाधवदासकी वाणी, आमोद महाकाव्यम्, विरुदावलीलक्षणम्, भक्ति तत्त्व-प्रकाशिका, गीतविंशतिका, भक्तिविवेक, अनर्पितचरीं चिरादिति श्लोकस्य व्याख्या, दशम स्कन्ध, रासपंचाध्यायी, श्रीगोवर्द्धनशतकम्, श्रीजगन्नाथवल्लभ नाटक, गोविन्दलीलामृतं, भाष्यपीठकम्, अष्टकालीय सेवा, सर्वसंवादिनी, गीता, भक्तभूषण-सन्दर्भ, श्रीगोपालतापनी, साधनदीपिका, रसचन्द्रिका, श्रीविष्णुसहस्रनाम स्तोत्रम्, विदग्धमाधव, षट्सन्दर्भ।

जीवनके अन्तिम चार वर्षोंमें बाबा जी अत्यन्त कृशकाय हो गये थे। अलंकारकौस्तुभ (कवि कर्णपूर) और 'हरिनामामृत व्याकरण'का वे अनुवाद करते रहते थे। सन् १९६७ में वे कुसुमसरोवरसे चलकर वृन्दावन और वृन्दावनसे मथुरा आकर रहने लगे थे। कुसुम सरोवरसे उनका मन उचाट खा गया था। अत: उनका काम रुक-सा गया था। कुछ दिनों वे मथुरारानीवाले पेचमें, कुछ दिनों बी० एस० ए० कालेजके सामने सर्वश्री विद्याधर गोपाल प्रसादकी बगीचीमें और प्राय: मार्च १९७० से वृन्दावन पहुँच गये थे, जहाँ सेठ श्रीजयदयालजी डालमियाकी वाटिकामें बनी कुटियामें रहने लगे थे। उनका प्रेस और पुस्तकालय तितर-बितर हो गया था। मथुरास्थित आकाशवाणीके सामने दाऊजीवाली बगीचीमें रहते हुए उन्होंने वृन्दावनकी लता-पताओंमें रहनेकी लेखकसे इच्छा व्यक्त की थी। यह बात प्राय: मार्च माहकी है। उनकी चिन्ताएँ इस प्रकार थी---उनके एकान्त-सेवनकी व्यवस्था हो, जहाँ वे शान्तिपूर्वक कार्य कर सकें, दूसरे उनके प्रकाशित ग्रन्थोंको भारत और विदेशके विश्वविद्यालयोंमें वितरणकी व्यवस्था हो, तीसरे उनके ग्रन्थागारका सुप्रबन्ध किया जाय। पहली चिन्ता सेठ श्रीडालमिया महोदयकी कृपासे दूर हो चुकी थी। ग्रन्थोंके वितरणकी व्यवस्थाके लिए बाबाजीने प्रो० श्रीजयकुमार मुद्गलके निवासस्थान पर सर्वश्री प्रभुदयाल मीतल, जयकुमार मुद्गल, शर्मनलाल अग्रवाल और लेखकके साथ विचार-विमर्श किया था और हम लोगोंने एक योजना तैयार की थी। बाबाजीके रुग्ण हो जानेके कारण यह कार्य रह ही गया। परन्तु तीसरी चिन्ता बाबाजीको सर्वाधिक व्याप रही थी। इस दिशामें उन्होंने अपने निर्देश लिखकर छोड़े हैं और एक ट्रस्टकी व्यवस्था वे बता गये हैं।

आजसे प्राय: दो वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके संयुक्तमन्त्री श्रीदेवधरशर्माने बाबाजीके स्वास्थ्यपर चिन्ता व्यक्त करते हुए उनकी चिकित्सा कराने और पूर्ण विश्रामका सुझाव दिया था, परन्तु बाबाजी अपनी धुनके पक्के थे। कहते थे 'मैं ठीक हूँ। मुझे कोई रोग नहीं है।' अन्तमें आशंका ठीक निकली और उनको क्षय-रोगने आ दबोचा। श्रीडालमियाजीकी कृपासे चिकित्सा भी होने लगी थी। क्षय-निवारक चिकित्सालयके प्रबन्धक पं० बनवारीलाल शर्माने स्वयं पूर्ण प्रबन्धके साथ उनकी चिकित्साका प्रबन्ध किया था। परन्तु इन्जेक्शन नहीं लगवाते थे और फलोंको दूसरोंमें वितरण कर डालते थे। उनके आहारमें तो प्राय: ४ वर्षोंसे कमी आ गयी थी। एक छटाक खिचड़ी या इतना ही दूध उनका आहार रह गया था। आखिर उनकी इच्छा पूर्ण हुई और महाप्रभु तथा उनके पार्षदोंका स्मरण करते-करते वे गोलोकको पधार गये।

बाबाजी चले गये। परन्तु उनकी कृश काया, उनका पाण्डित्य, उनकी विदग्धता, उनकी स्मरणशक्ति, उनकी निरीहता, निष्कपटता, निश्छलता, सौम्यता, उदात्तता, सरलता, उनका भोलापन, मृदुल व्यवहार, अध्यवसाय, लगनपूर्ण निर्लिप्त जीवन आदि क्या भुला देनेकी वस्तुएँ हैं। वे एक परिव्राजक तो थे ही, भावुक कवि भी थे, मीमांसक और व्याख्याकार भी थे। संस्कृत और बंगलाके वे मान्य पण्डित थे। हिन्दी काम चलाऊ जानते थे परन्तु हिन्दीका काम किसी बड़े डाक्टर डिग्रीधारीसे कहीं अधिक वे कर गये। वैष्णव साहित्यकी खोज करते-

करते वे स्वयं खोजके विषय बन गये। निःश्रेयसके मार्गपर अनवरत चलते-चलते वे स्वयं ही पथ बन गये। एकात्मता और एकनिष्ठा उनमें कमालकी थी। कुसुमसरोवरपर जिस रूपमें इस महान् तत्त्वान्वेषीको जिस मुद्रामें मैंने एकबार देखा, उसे स्मरणकर आज भी मेरा अन्तर्मन अनन्त श्रद्धासे भर जाता है और जाबालि प्रभृति ऋषियोंकी तपस्या मेरे मनमें साकार हो उठती है। बाबाजी उन दिनों साधनदीपिका छाप रहे थे और षट्सन्दर्भका अनुवाद चल रहा था। मन्दिरके ऊपरी भागमें अध्ययनरत थे। उनके सामने कई गौरैया बैठी चहक रही थी। कभी वे उनके सिरपर भी क्षणभरको जा बैठती थी। चीटीं-चींटे बाबाजीकी देहपर साधिकार विचरण कर रहे थे। परन्तु वह किसी समाधिस्थ योगीके समान ध्यानमग्न लिखनेमें मस्त थे। देवनागरीके अक्षर वे सुन्दर बनाते थे। व्यवस्थित लेख था। कभी-कभी वे लेटकर भी लिखते थे। परन्तु जब भी लिखते सुन्दर सुलेख लिखते थे। उन्होंने एक सच्चे वैष्णव सन्तका मन-मस्तिष्क पाया था। साहित्यके शोधार्थियोंको वे भरसक सहायता देते थे। मृदुभाषी, मधुरभाषी उनकी वाणी मधुररससिक्त थी। छोटे-बड़े सभीके प्रति समान बाबा कृष्णदास साक्षात् श्रीनारायणभट्टके अवतार लगते थे। उनका निवासस्थान ऊँचागाँव उनको सर्वाधिक प्रिय था। सखीगिरि पर्वतका काटना और बेचना कृष्णदास बाबाके प्रयासोंसे भी संभव हो सका था। बाबाजीने इसमें दिनरात एक कर दिया था। नारायणभट्टजीने ब्रजके लुप्तप्राय तीर्थों और विग्रहोंका प्राकट्य किया था और बाबा कृष्णदासने लुप्तप्राय संस्कृत और बंगला ब्रज-वाङ्मयका पुनरुद्धार, संरक्षण, प्रकाशन और संवर्द्धन किया। रामकथाको जन-जन तक पहुँचाया गो० तुलसीदासने तो, बाबा कृष्णदासने देववाणी-साहित्यको हिन्दीके माध्यमसे जन-जनका बना दिया। श्रीनारायणभट्ट, कवि कर्णपूर, विश्वनाथ चक्रवर्ती, रूप, जीव आदि महापुरुषोंके व्यक्तित्व और कृतित्वकी प्रामाणिक खोजका श्रेय बाबा कृष्णदासको ही जाता है। उन्होंने इतना अज्ञात-अपरिचित साहित्य संग्रह किया है कि पचासों वर्षों तक शोधार्थी उनका अध्ययन-आलोड़न करके डाक्टरेटकी उपाधि प्राप्त करते रह सकते हैं।

उस नमनीय व्यक्तित्वके सामने हमारी श्रद्धा नतमस्तक है।

•

उदार सन्त

जिनके मन, वाणी और शरीरमें पुण्यमय अमृत भरा है; जो अपनी उपकार—परम्पराओंसे तीनों लोकोंको परितृप्त करते हैं तथा दूसरोंके परमाणु तुल्य गुणोंको भी पर्वतोंके समान महान् मानकर अपने हृदयमें उत्फुल्ल होते रहते हैं; ऐसे उदार सन्त संसारमें कितने हैं?

•

संस्कृत-शिक्षा, कुसंगतिका प्रवाह और प्रायश्चित्त

गांधीजीके जीवनका एक पृष्ठ

(उन्हींकी वाणीमें)

★

मुझे तो संस्कृत अधिक न पढ़ सकनेका पछतावा होता है; क्योंकि आगे चलकर मेरे ध्यानमें यह वात आयी कि किसी भी हिन्दू-बालकको संस्कृतके अच्छे अभ्याससे वंचित नहीं रहना चाहिए।

हाईस्कूलमें मेरे थोड़े-से ही खास मित्र थे। मित्र कहे जा सकनेवाले ऐसे मेरे दो मित्र भिन्न समयोंमें थे। एककी मित्रता तो दूर तक नहीं निभी, दूसरेका साथ मेरे जीवनका दुःखद अध्याय है।

जिन दिनों इस मित्रसे मेरा सम्बन्ध था उन दिनों राजकोटमें सुधार-पन्थका बोलबाला था। अनेक हिन्दू शिक्षक गुप्त रूपसे मांस और मद्यका सेवन करते थे, उसी मित्रसे यह वात मालूम हुई। कारण पूछनेपर उसने कहा कि मांसाहार न करनेके कारण ही हमलोग निर्बल राष्ट्र हैं। अंग्रेज जो हमपर राज्य कर रहे हैं उसका कारण उनका मांसाहार ही है। मेरी देह कैसी दृढ़ है और मैं कितना दौड़ सकता हूँ। यह तुम्हें मालूम ही है। इसका कारण भी मेरा मांसाहार ही है।

माता-पिताका मैं परम भक्त था। मैं समझता था कि यदि उन्हें मांसाहारका पता लग गया तो वे वेमौत मर जायँगे। मांसाहारका निश्चय मेरे लिए बड़ा गम्भीर और भयानक कार्य था।

मांसाहारका नियत दिन आया। दूर जाकर ऐसा कोना ढूँढ़ निकाला, जहाँ कोई हमें देख न सके। वहाँ मैंने कभी न देखी हुई चीज (मांस) देखी! साथमें भटियारेके यहाँकी डबलरोटी थी। दोनोंमें-से एक भी चीज रुच नहीं रही। मांस चमड़े-सा लग रहा था, निगलना अशक्य हो गया, उलटी आने लगी। खाना छोड़ देना पड़ा।

मांसाहार-कालके और उसके पहलेके भी कुछ दोषोंका वर्णन करना अभी बाकी है। वे विवाहके पूर्वके या उसके कुछ-कुछ ही बादके हैं।

अपने एक रिस्तेदारकी सोहबतमें मुझे सिगरेट पीनेका शौक हुआ। हमारे पास पैसे न थे। मेरे चाचाको इसकी आदत थी। उन्हें तथा औरोंको धुआँ उड़ाते देखकर हमें भी कश खींचनेका शौक लगा। पैसा न होनेके कारण हमने चाचाके पीकर फेंके हुए सिगरेटके टुकड़े चुराना शुरू किया। पर टुकड़े हरवक्त तो न मिल सकते थे और उनसे धुआँ भी ज्यादा न निकलता था। अतः नौकरकी जेबमें पड़े दो-चार पैसोंमें-से हम बीच-बीचमें एकआधा पैसा चुराने और उससे सिगरेट खरीदने लगे।

अपनी पराधीनता हमें खलने लगी, बड़ोंकी आज्ञा बिना कुछ भी न हो सके यह विशेष कष्टदायक हो गया। हम ऊब गये और आत्महत्या करनेकी ठान ली। वह कैसे करें? जहर कहाँ से लायें? हमने सुना था कि धतूरेके बीज खानेसे मृत्यु होती है। हम जंगलमें जाकर बीज ले आये। खानेके लिए शामका समय निकाला। केदारजीके मन्दिरकी दीपमालामें घी चढ़ाया, दर्शन किये और फिर एकान्त ढूँढ़ा पर जहर खानेकी हिम्मत न हुई। तत्काल मृत्यु न हो तो? मरनेसे क्या लाभ होगा? पराधीनता भोग ही क्यों न लें? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खानेकी हिम्मत ही न पड़ी, हम मृत्युसे डरे। मैंने समझ लिया कि आत्महत्याका विचार करना सहज है, आत्मघात करना सहज नहीं।

इस आत्महत्याके निश्चयका एक परिणाम यह हुआ कि जूठी सिगरेट चुराकर पीने और साथ ही नौकरके पैसे चुराने तथा उससे सिगरेट खरीदकर पीनेकी मेरी आदत ही जाती रही।

सिगरेटके टुकड़े और उसके लिए नौकरके पैसे चुरानेके अपराधकी अपेक्षा एक दूसरी चोरीका अपराध जो मेरे हाथों हुआ उसे मैं ज्यादा बड़ा समझता हूँ।

चोरीके समय पन्द्रह सालका रहा हूँगा। यह चोरी भाईके सोनेके कड़ेके टुकड़ेकी थी। उन्होंने छोटा-सा कोई पच्चीस रुपयेका कर्ज कर लिया था। हम दोनों भाई इसे चुकानेके चक्करमें थे। भाईके हाथमें सोनेका ठोस कड़ा था। उसमें-से तोला भर सोना काट लेना कठिन न था।

कड़ा कटा। कर्ज पट गया, पर मेरे लिए यह बात असह्य हो गयी।

इसके बाद मैंने कभी चोरी न करनेका निश्चय किया। यह भी सोचा कि पिताजीके सामने इसे कबूल लेना चाहिए पर जबान न खुलती थी। पिताजी मुझे पीटेंगे इसका डर तो नहीं था। उन्होंने किसी दिन हममें-से किसी भी भाईको मारा हो यह याद नहीं। पर स्वयं क्लेश करेंगे, कहीं अपना सिर पीट लें तो? पर मनने कहा कि यह खतरा लेकर भी दोष स्वीकार करना ही उचित है, इसके बिना शुद्धि नहीं होनेकी।

प्रायश्चित्त

अन्तमें मैंने पत्र लिखकर दोष स्वीकार कर लेने और माफी मांगनेका निश्चय किया। मैंने पत्र लिखकर अपने हाथसे उन्हें दिया। पत्रमें सब दोष स्वीकार किया और उसका दण्ड

माँगा। यह विनती की कि मेरे अपराधके लिए वह अपनेको कष्टमें न डालें और प्रतिज्ञा की कि भविष्यमें फिर ऐसा अपराध न करूँगा।

मैंने काँपते हाथों यह पत्र पिताजीके हाथमें दिया। मैं उनके तख्तके सामने बैठ गया। इन दिनों वह भगन्दर रोगसे पीड़ित थे। इससे बिस्तरे पर ही रहते थे। खाटके बदले तख्त काममें लाते थे।

उन्होंने पत्र पढ़ा। आँखोंसे मोतीकी बूँदें टपकीं। पत्र भींग गया। क्षणभर आँखें मूँद लीं, पत्र फाड़ डाला और और पढ़नेको बैठे हुए थे सो पुन: लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजीकी पीड़ाका मैं अनुभव कर सका, मैं चित्रकार होता तो आज भी उस दृश्यकी पूरी तस्वीर खींच सकता था। आज भी इस तरह वह मेरी आँखोंके सामने नाच रहा है।

इन मुक्ता-विन्दुओंके प्रेम-बाणने मुझे वेध दिया। मैं शुद्ध हो गया। इस प्रेमको तो अनुभवी ही जान सकता है।

मेरे लिए यह अहिंसाका पदार्थ-पाठ था। उस समय तो मैं उसमें सिवा पितृ-प्रेमके और कुछ न देख सका था, पर आज मैं उसे शुद्ध अहिंसाका नाम दे सकता हूँ। ऐसी अहिंसाके व्यापक रूप धारण कर लेनेपर उसके स्पर्शसे कौन अछूता रह सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसाकी शक्तिकी नाप-तौल करना अशक्य है।

ऐसी शान्त क्षमा पिताजीके स्वभावके प्रतिकूल थी। मैंने सोचा था कि वे क्रुद्ध होंगे, खरी-खोटी सुनायेंगे, शायद अपना सिर पीट लेंगे। मैं समझता हूँ कि उनके ऐसी अपार शान्ति रख सकनेका कारण मेरा दोषको स्पष्टरूपसे स्वीकार लेना था। अधिकारीके सामने जो आदमी स्वेच्छापूर्वक खुले दिलसे और फिर कभी न करनेकी प्रतिज्ञाके साथ अपना दोष स्वीकार कर लेता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है। मैं जानता हूँ कि मेरे कबूल कर लेनेसे पिताजी मेरे विषयमें निर्भय हो गये और उनका महान् प्रेम और बढ़ गया।

(संकलित)

कुसंगसे बचो

कुसंग विष है, उसका सेवन करनेवालेको जीवनसे हाथ धोना पड़ता है। सत्संग अमृत है; उसके सेवनसे नया जीवन तथा अमृत पद सुलभ होता है।

●

महात्मा गांधीका अनासक्तियोग

डॉ० श्रीजयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल

महात्मा गांधीने गीताको अनासक्तियोग माना है। उन्होंने सन् १९२९में श्रीमद्-भगवद्गीताका हिन्दी अनुवाद 'अनासक्तियोग' नामसे लिखा, जिसका प्रथम संस्करण श्रीसीताराम सेकसरिया, शुद्ध-खादी-भंडार, हरिसेन रोड, कलकत्ताने प्रकाशित किया। प्रथम संस्करणमें दस हजार प्रतियाँ मुद्रित हुईं। मूल्य था दो आना, सजिल्दका चार आना। पुस्तकका आकार जेबी। इसमें प्रारम्भमें गांधीजीकी १९ पृष्ठकी प्रस्तावना है, उसके बाद गीताके १८ अध्यायोंका क्रमशः हिन्दी अनुवाद। गांधीजीने लिखा है 'बहुतेरी गीताओंके साथ संस्कृत भी होती है, इसमें जानकर संस्कृत नहीं रखी गयी। संस्कृत सब जानें तो मैं पसन्द करता हूँ। लेकिन संस्कृत सब कभी जाननेके नहीं। दूसरे, संस्कृतमें तो बहुत सस्ते संस्करण मिल सकते हैं, इसलिए संस्कृत छोड़कर कद और कीमत बचानेका निश्चय किया गया।'

गांधीजीने गीताके अनुवादमें अपने जीवनमें गीताको आचरणमें ढालकर और उसकी हृदयानुभूति करके प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है—'गीता पढ़ते, मनन करते और उसका अनुसरण करते मुझे आज चालीस वर्षसे ऊपर हुए।' गीताकी ध्वनि यह है कि अनासक्ति पूर्वक सब काम करना। क्योंकि पहले ही अध्यायमें अर्जुनके सामने स्वजन, परजनका झगड़ा खड़ा हो जाता है। ऐसा भेद मिथ्या है और हानिकारक है, यह गीताने प्रत्येक अध्यायमें निरूपण किया है। गीताको मैंने अनासक्तियोगका नाम दिया है। यह क्या है, यह किस प्रकार सीखा जा सकता है, अनासक्तिके लक्षण क्या हैं, यह सब उपर्युक्त पुस्तकमें-से जाननेकी इच्छावाले जान सकेंगे।' गांधीजीने गीताके प्रकाशनके साथ ही ब्रिटिश शासनके प्रति असहयोग आन्दोलन भी प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने लिखा है 'गीताका अनुकरण करते हुए मुझसे यह युद्ध शुरू किये बिना नहीं रहा गया। एक मित्रने तार भेजा है तदनुसार मेरे लिए यह धर्मयुद्ध है और उसके ठीक आखिरी फैसलेके समय यह पुस्तक निकली है' यह मेरे लिए शुभ शकुन है।

गांधीजीने अपने जीवनमें अनासक्तियोगका आचरण किया। गीता उनके लिए महान् प्रेरणात्मक रही। जैसा कि उन्होंने 'अनासक्तियोग'की प्रस्तावनामें लिखा है 'गीताको मैंने जैसा

समझा है, उसी तरह उसका आचरण करनेका मेरा और मेरे साथ रहनेवाले कई साथियोंका सतत उद्योग है। गीता हमारे लिए आध्यात्मिक निदान-ग्रन्थ है। तद्वत् आचरण करनेमें निष्फलता नित्य आती है, पर यह निष्फलता हमारा प्रयत्न रहते हुए है; इस निष्फलतामें हमें सफलताकी उगी किरणोंकी झलक दिखायी देती है। यह नन्हा जन-समुदाय जिस अर्थको कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रयत्न करता है, वह अर्थ इस अनुवादमें है।'

गांधीजीने महाग्रन्थ महाभारतमें संदर्भसहित गीताका अध्ययन किया और यह अनुभव किया कि 'महाभारतकारने भौतिक युद्धकी आवश्यकता सिद्ध नहीं की, उसकी निरर्थकता सिद्ध की है। विजेतासे रुदन कराया है, पश्चाताप कराया है और दुःखके सिवा और कुछ बाकी नहीं रखा। इस महाग्रन्थमें गीता शिरोमणि-रूपसे विराजती है। उसका दूसरा अध्याय भौतिक-युद्ध—व्यवहार सिखानेके वदले स्थितप्रज्ञके लक्षण सिखाता है। मुझे तो ऐसा प्रतीत हुआ है कि स्थितप्रज्ञका ऐहिक युद्धके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता, यह बात उसके लक्षणमें ही है। साधारण पारिवारिक झगड़ोंके औचित्य-अनौचित्यका निर्णय करनेके लिए गीता-सरीखी पुस्तकका होना संभव नहीं है।'

गांधीजीने अवतारकी भी अपनी मौलिक व्याख्या की है। उन्होंने लिखा है "अवतारसे तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष-विशेष। जीवमात्र ईश्वरके अवतार हैं, परन्तु लौकिक भाषामें सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युगमें सबसे श्रेष्ठ धर्मवान होता है, उसीको भावी प्रजा अवतार-रूपसे पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता; इसमें न तो ईश्वरके बड़प्पनमें ही कमी आती है, न सत्यको ही आघात पहुँचता है। 'आदम खुदा नहीं, लेकिन खुदाके नूरसे आदम जुदा नहीं।' जिसमें धर्म-जागृति अपने युगमें सबसे अधिक है वह विशेषावतार है। इस विचार-श्रेणीसे कृष्ण-रूपी सम्पूर्णावतार आज हिन्दू-धर्ममें साम्राज्यका उपभोग कर रहा है।"

गांधीजी जीवनका चरम लक्ष्य आत्मदर्शन मानते हैं। यह मनुष्यकी अन्तिम प्रिय अभिलाषा है। क्योंकि 'मनुष्यको ईश्वररूप हुए विना चैन नहीं पड़ती, शान्ति नहीं मिलती। ईश्वररूप होनेका प्रयत्न ही सच्चा और एकमात्र पुरुषार्थ है और यही आत्म-दर्शन है। यह आत्मदर्शन जैसे सब धर्मग्रन्थोंका विषय है वैसे ही गीताका भी है। पर गीताकारने इस विषयका प्रतिपादन करनेको गीता नहीं रची। गीताका आशय आत्मार्थीको आत्म-दर्शन करनेका एक अद्वितीय उपाय बतलाना है। जो चीज हिन्दूधर्म ग्रन्थोंमें यत्रतत्र दिखायी देती है, उसे गीताने अनेकरूपसे अनेक शब्दोंमें पुनरुक्तिका दोष मत्थे लेकर भी अच्छी तरह स्थापित किया है। वह अद्वितीय उपाय है कर्मफलत्याग। इस मध्यविन्दुके चारों ओर गीताकी सारी सजावट की गयी है। भक्ति, ज्ञान इत्यादि उसके आसपास तारामण्डलकी भाँति सज गये हैं। जहाँ देह हैं, वहाँ कर्म तो है ही। उससे कोई मुक्त नहीं है। तथापि शरीरको प्रभुमन्दिर बनाकर उसके द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है यह सब धर्मोंने प्रतिपादित किया है परन्तु कर्ममात्रमें कुछ दोष तो है ही। मुक्ति तो निर्दोषकी होती है। तब कर्मबन्धनमें-से अर्थात् दोषस्पर्शसे कैसे छुटकारा हो? इसका जवाब गीताजीने निश्चयात्मक शब्दोंमें दिया

है—निष्काम कर्मसे, यज्ञार्थं कर्म करके, कर्मफल त्याग करके, सव कर्मोंको कृष्णार्पण करके अर्थात् मन, वचन और कायाको ईश्वरमें होम करके।"

गांधीजीने बहुत मनन-चिन्तन, हृदय-मन्थनसे निष्काम भावकी उत्पत्ति मानी है। इस त्याग-शक्तिको पैदा करनेके लिए ज्ञान चाहिए। कोरा ज्ञान नहीं वरन् आचरणयुक्त ज्ञान। सम्यक् ज्ञान, वह ज्ञान जो जीवनमें, आचरणमें उतरकर आ जाय। गांधीजीने लिखा है कि 'ज्ञानका अतिरेक शुष्क पाण्डित्यके रूपमें न हो जाय, इससे गीताकारने ज्ञानके साथ भक्तिको मिलाकर उसे प्रथम स्थान दिया है। भक्ति विना ज्ञान बेकार है। इसलिए कहा है कि 'भक्ति करो, तो ज्ञान मिल ही जायगा' पर भक्ति 'तलवारकी धार पै धावनो', है। इससे गीताकारने भक्तके लक्षण स्थितप्रज्ञके-से वतलाये हैं।'

गांधीजीने गीताकी ज्ञानसमन्वित भक्तिको अन्धश्रद्धासे भिन्न वताते हुए लिखा है—'गीतामें वताये उपचारोंका बाह्यचेष्टा या क्रियाके साथ कमसे कम सम्बन्ध है। माला, तिलक और अर्घ्यादि साधनोंका भले ही भक्त प्रयोग करे, पर वे भक्तिके लक्षण नहीं हैं। जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो करुणाका भण्डार है, ममतारहित है, जो निरहंकार है, जिसे सुख-दुःख शीत-उष्ण समान हैं, जो क्षमाशील हैं, जो सदा सन्तोषी है, जिसका निश्चय कभी बदलता नहीं, जिसने मन और बुद्धि ईश्वरको अर्पण कर दी है, जिससे लोग नहीं घबराते, जो लोगोंका भय नहीं रखता, जो हर्ष, शोक, भयादिसे मुक्त है, जो पवित्र है, जो कार्यदक्ष होनेपर भी तटस्थ है, जो शुभाशुभका त्याग करनेवाला है, जो शत्रु-मित्रपर समभाव रखनेवाला है, जिसे मान-अपमान समान है, जिसे स्तुतिसे खुशी और निन्दासे ग्लानि नहीं होती, जो मौनधारी है, जिसे एकान्त प्रिय है, जो स्थिरबुद्धि है वह भक्त है। यह भक्ति आसक्त स्त्री-पुरुषोंके लिए सम्भव नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान प्राप्त करना, भक्त होना यही आत्मदर्शन है। आत्मदर्शन उससे भिन्न वस्तु नहीं है।'

गांधीजीने अनासक्तिका अर्थ कर्म छोड़ना नहीं माना है। 'गीताका कहना है कि फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो', 'आशारहित होकर कर्म करो', 'निष्काम होकर कर्म करो।' वस्तुतः मनुष्य परिणामकी वात सोचता रहता है तो अनेक वार वह कर्म-कर्तव्यभ्रष्ट हो जाता है। उसे अधीरता आती है, इससे वह क्रोधवश होकर न करने योग्य विषयान्धकी भाँति नीति-अनीतिका विवेक छोड़कर किसी भी प्रकार फल प्राप्त करनेके लिए चाहे जैसे साधनोंसे काम लेता है और उसे धर्म मानता है। अतः फलासक्तिका अभाव होना कर्ताकी असीम श्रद्धा (कर्ममें) की परीक्षा है। वस्तुतः फलत्यागीको हजारगुना फल मिलता है।

●

श्रीविठोवाके अनन्य भक्त एवं लोक-कल्याणपरायण

सन्त तुकाराम

श्रीगोविन्द शास्त्री

★

मीरा पर राजस्थानको, चैतन्य प्रभुपर बंगालको, सूर और तुलसीपर उत्तर प्रदेशको जो गर्व है, वही तुकारामपर महाराष्ट्रको है। विलक्षण व्यक्ति राज्य और प्रदेशकी सीमासे ऊपर उठ कर सारे विश्वके हो जाते हैं फिर भी उनके इतिवृत्तके साथ जन्म-स्थानका नाम जुड़ जाता है, जिस स्थानपर उन्होंने जन्म लिया था वह पवित्र—पूज्य बन जाता है। तुकाराम महाराष्ट्रीय थे। महाराष्ट्रमें सत्संग और भजनके साथ-साथ उपदेश भी किया जाता है। तुकाराम भी इस परम्पराको माननेवाले थे। महाराष्ट्रीय एक छन्द अभंग उनको सिद्ध हो गया था। वे जब भी कभी कीर्तन और उपदेश करते तो अभंगमें ही बोलते थे। प्रत्यक्ष जगत्के भ्रमोंसे बचकर परमार्थ रूपसे भगवान्की शरणमें जानेका उपदेश उनके जीवनका लक्ष्य बन गया था। उन्हें उपदेश देनेके सिवा और भगवद्-भजनके अलावा कोई काम नहीं था। कहते हैं —उन्होंने अपने जीवनमें चार करोड़के करीब अभंग कहे थे। यह बात अतिशयोक्ति हो सकती है, असंभव नहीं; क्योंकि इकतीस वर्षतक साधु वृत्तिवाला यायावर उपदेश करता रहे तो इतने पद कह जाना कोरी कल्पनाकी बात नहीं हो सकती। कोई चार हजार अभंगोंका संग्रह गाथाके नामसे प्रकाशित हुए साठ वर्षसे अधिक समय हो गया। इतना निश्चयसे कहा जा सकता है कि अब भी तुकारामके कहे अभंग बहुत बड़ी संख्यामें अप्राप्य हैं।

पूनाके बीस मील उत्तरकी तरफ इन्द्रायणी नदीके किनारेपर देहू नामक गाँवमें तुकारामके पूर्वज रहा करते थे, जातिसे कुनबी (शूद्र) और वृत्तिसे बनियाई। ईश्वरभक्ति इस परिवारमें पीढ़ियोंसे चली आ रही थी। देहू गाँवमें विठ्ठल-भगवान् विष्णुका मन्दिर तुकारामके पूर्वज विश्वम्भर बाबाने बनवाया था। कहते हैं इस मन्दिरमें प्रतिष्ठित मूर्ति मिट्टीमें दब रही थी और उसने स्वप्नमें विश्वम्भर बाबाको आदेश दिया था। विश्वम्भरके पौत्र विठोबा उस युगके विख्यात और सच्चे भगवद्भक्त थे। तुकाराम इसी वंशकी आठवीं पीढ़ीमें थे। विठोबा—पदाजी-शंकर-कान्होबा-बोल्होबा-तुकाराम।

बोल्होबा विठ्ठलके परमभक्त और साधु प्रकृतिके व्यक्ति थे। उनकी पत्नी कनकाई भी पतिकी ही तरह सेवापरायण और धार्मिक थी। महाराष्ट्रके परम पावन एवं प्रसिद्ध तीर्थ-

स्थान पण्ढरपुरकी चौवीस बार पदयात्रा कर चुका था यह दम्पति। शक संवत् १५२०को माघ कृष्ण पंचमी गुरुवारके दिन तुकारामका जन्म हुआ था। महाराष्ट्रीय इतिहासकार राजवाड़े इनका जन्मकाल १४९० शकाब्द मानते हैं। तुकाराम अपने पिताके दूसरे पुत्र थे। तुकारामके बड़े भाईका नाम सावजी और छोटेका नाम कान्होवा था। सावजी जन्मसे ही वीतराग था। घरसे और संसारसे उसे कोई लेन-देन नहीं था। सावजीकी ऐसी प्रवृत्तिके कारण घरके कामोंका भार तुकाराम पर आ पड़ा। तेरह वर्षका वालक तुकाराम अपने पिताकी सहायता करने लगा। पिताके साथ नित्य मन्दिरमें जाने और उपदेश सुननेसे ज्ञानेश्वर नामदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथ-जैसे सन्तोंके अभंग उसे कण्ठस्थ हो गये। इन पदोंकी तुकारामके किशोर मन पर बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ा। सांसारिक विषयोंमें उन्हें कोई रस नहीं दिखा, पर अपने कर्तव्यको पूरी निष्ठा और लगनसे करना उन्होंने नहीं छोड़ा।

सत्रह वर्षकी अवस्थामें आते-आते तुकारामको माता-पिता और भौजाईकी मृत्यु देख लेनी पड़ी। सावजी पहलेसे ही वीतरागी थे। पत्नीके मरनेपर रहा-सहा वन्धन भी छूट गया। वे संन्यासी हो गये और गृहस्थकी जिम्मेदारियोंमें उलझनेके लिए रह गये तुकाराम। तुकाराम इन सांसारिक झगड़ोंको व्यर्थका प्रपञ्च मानकर इनसे ऊब तो गये थे। पर कर्तव्य भावनाके कारण इनका परित्याग नहीं कर पा रहे थे। तुकारामके दो विवाह हुए थे। पहले पत्नीके दमेकी असाध्य वीमारी रहनेके कारण उनके पिताने ही पुत्रके दो विवाह कर दिये थे और पिताभक्त पुत्रने कोई भी अड़चन डालना पसंद नहीं किया था।

इन्हीं दिनों अकाल पड़ा। तुकारामका एक पुत्र, शिवाजी और पहलेवाली पत्नी-दमेकी वीमार—इस अकालके दिनोंमें ही परलोकवासी हो गये। वच गये तुकाराम और उनकी दूसरी पत्नी जीजावाई। तुकारामका मन संसारकी भंगुरतासे ऊब गया, तथापि वे अपने धर्मपर स्थिर रहे। अकालसे उनकी वृत्ति और सम्पदा दोनों ही चौपट हो गयी, पर 'न दैन्यं न पलायनम्' माननेवाले तुकाराम इस विपद्को भी प्रभुकी कृपाका प्रसाद मानकर अधिक समय ईश्वरचिन्तनमें लगाने लगे। इन विपरीतताओंको वे प्रभुका अनुग्रह मानते थे। एक स्थानपर इसी सन्दर्भमें उन्होंने कहा है—"हे ईश्वर! अच्छा किया जो मेरी हँसाई की। इस पछतावेके कारण मैं तेरा स्मरण करूँगा। अव मेरे मनमें यह विश्वास आ गया कि तू जो कुछ करता है वह भलेके ही लिए करता है।"

अकालके कारण ही कंगाल हुए तुकारामने भिक्षावृत्तिका आश्रय लिया। जीजाबाई जो भिक्षा लाती उसीको ग्रहण करके अनहिंश भगवान्का चिन्तन और भजन करनेवाले तुकारामको अब संसारसे कोई काम नहीं रह गया था। तुकारामकी पत्नी पतिव्रता और साधु-स्वभावकी महिला थी। भिक्षावृत्तिसे प्राप्त अन्नसे वह अपने बच्चोंका भरण-पोषण करती फिर अवधूत तुकारामको जंगल या एकान्त स्थानोंसे ढूँढ़-ढाँढ़कर लाती इनको भोजन कराती तब स्वयं अन्न ग्रहण करती थी। कभी-कभी तुकाराम नहीं मिल पाते तो वह भी निराहार ही रह जाती थी। यद्यपि तुकारामने अपने अभंगमें अपनी पत्नीको कर्कशा बतलाया है फिर भी उसके पतिव्रता होनेमें कोई सन्देह नहीं है। हो सकता है वह उनकी अतिशय भक्तिमें सुविधाएँ-

सांसारिक एवं शारीरिक उत्पन्न करनेकी हठ करती हो और यह तुकारामको पसंद नहीं आया हो इसीलिए उन्होंने कर्कशा कह दिया हो।

भगवान्का भजन करते-करते तुकाराम अभंगमय और उपदेशमय हो गये थे। भोजन और वस्त्र-जैसी वस्तुओंका भी उनको कोई ध्यान नहीं था। उनकी पत्नी ही वत्सलभावसे प्रेरित होकर उनका ध्यान रखती थी। सुनते हैं एकबार एक किसानने तुकारामको अपने खेतकी रखवाली करनेके लिए आधा मन अन्नकी मजदूरीपर रखा। किसान प्रवासमें चला गया और तुकाराम नियमितरूपसे खेतपर चले जाते। खेतपर बैठे-बैठे भगवान्का भजन करते रहते। पशुपक्षी खेतका अनाज चरने-चुगने आते तुकाराम उनको देखते रहते उड़ाते या भगाते नहीं। सारे संसारको भगवान्का स्वरूप मानने वाले, तुकाराम क्यों किसी प्राणीको ताड़ते ? फल यह हुआ कि जब किसान वापस आया तो सारा खेत जानवरोंने खा डाला था। क्रोधमें भरकर किसानने गाँवके हाकिमके यहाँ तुकाराम पर नालिश कर दी। तुकारामने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और हाकिमने तुकारामको देनदार ठहराया। बचे-खुचे धानको जब किसानने काटकर निकाला तो इतना अन्न हुआ जितना कभी हुआ ही नहीं था। तुकारामकी भक्ति-भावनाका ही यह चमत्कार है—यह मानकर वह बहुत अन्न लेकर तुकारामके पास गया पर तुकारामने लेनेसे मना कर दिया, कहा—यह अन्न बेचकर इसके पैसे विठ्ठलके मन्दिरको सुधारनेमें खर्च कर दो।'

इस समय तुकाराम व्रत, उपवास, भजन, मनन आदिमें ही सारा समय लगाते थे। गीता, भागवत, रामायण आदि पुस्तकोंका मनन करते-करते उन्हें ब्रह्मज्ञान हो गया। शक सम्वत् १५४१ माघ शुक्ल दशमी गुरुवारको चैतन्यनामक किसी पवित्र ब्राह्मणने स्वप्नमें उनको 'रामकृष्ण हरि' मन्त्रका उपदेश दिया। तुकारामने इस मन्त्रका अखण्ड जप प्रारम्भ कर दिया और इसी गुरुमन्त्रके जपसे उनको समाधि लग गयी, खाना-पीना भूल गये। एकान्त स्थानमें चले गये। उनकी पत्नी व छोटे भाईने बहुत प्रयत्न किया कि वे घर लौट आयें पर वे नहीं आये। अन्तमें सन्त नामदेव और विट्ठल प्रभुने उनको दर्शन देकर कहा कि भजनके द्वारा जनताकी सेवा करो, समाजको सन्मार्ग दिखलाओ तो वे वापस लौट आये। घर आकर उन्होंने अपने सम्पत्तिविषयक कागजोंके दो भाग किये। अपना भाग इन्द्रायणी नदीमें डुबो आये और भाईके हिस्सेकी सम्पत्तिके दस्तावेज भाईको दे आये। भिक्षा माँग कर खा लेना और अभंग कहना उनकी दिनचर्य्या थी। भगवान्की कृपासे उनकी वाणीमें इतना प्रभाव और रस आ गया कि नास्तिक और कठोर मनवाला पाखण्डी भी उनके उपदेश सुनकर पसीज जाता।

तुकारामकी इस प्रसिद्धिसे ईर्ष्या रखनेवाला रामेश्वर भट्ट नामक विद्वान् था। समाजमें और राजदरबारमें उसका प्रभाव था। जब उसने देखा कि तुकारामके उपदेशसे उच्चवर्ग भी प्रभावित होने लगा है तो उसने तुकारामको बुलाकर कहा :—तुम शूद्र हो तुम्हें ब्राह्मणोंको उपदेश करनेका अधिकार नहीं है। अपनी अभंगोंकी पुस्तक नदीमें डाल दो। ब्राह्मणकी आज्ञाको शिरोधार्य करके तुकारामने अपने प्रिय अभंगोंकी पुस्तक इन्द्रायणी नदीके समर्पित

कर दी। इस घटनासे तुकारामके अनुयायियोंको वड़ा दुःख हुआ। लेकिन आश्चर्यकी वात यह हुई कि डुवानेके चौदहवें दिन वह अभंगोंकी वही नदीपर तैरती हुई मिली और उसे सुरक्षित ले आया गया। उधर रामेश्वर भट्ट नागनाथ नामके देवताके उपासक थे। इस घटनाके दूसरे दिन जव वे देवताके स्थानपर स्नान करने गये तो पानी डालते ही उनके शरीरमें आग-सी लगने लगी। फिर देवताकी प्रेरणापर वे तुकारामके चरणोंमें लोटे और क्षमा माँगी, तव उनका वह दाह नष्ट हुआ।

तुकारामकी (निष्पक्षता) निस्संगता, सुन्दर उपदेशोंकी चर्चा जव छत्रपति शिवाजीके कानोंमें पहुँची तो उन्होंने दर्शन देनेके लिए तुकारामको बुलवाया। तुकाराम ठहरे निःस्पृह, उन्हें राजसम्मानसे क्या लेना था? नहीं गये और अभंगमें ही उत्तर भिजवा दिया। उन अभंगोंका सारांश था—

"छत्रपति आप परम पवित्र और सामर्थ्यवान् राजा हो। मुझे इसी वातपर आश्चर्य होता है कि मेरे-सरीखे दीन-हीनके दर्शनमें क्या रखा है? आपने यह वात सोच ही किस तरह ली? मैं वनवासी, उदासीन हूँ। वस्त्रोंके विना मेरा शरीर मलीन है और अन्नके विना क्षीण है। मैं दर्शन-योग्य नहीं हूँ। मैं प्रार्थना करता हूँ कि आगे कभी भी मेरे दर्शनकी वात न करें। मैं स्वयं विठोवाकी शरणमें हूँ। वही मेरा पालन पोषण करता है। उसने मुझे निराशा नामका गाँव निकाल दिया है जिससे मेरा निर्वाह हो जाता है। अव मैं आपके पास आकर क्या माँगूंगा? जैसे पतिव्रताका मन पतिमें लगा रहता है वैसे ही मेरा मन भी विट्ठलमें लगा रहता है। उसीकी मूर्तिमें मैं आपको भी देखता हूँ परन्तु मेरी एक बात सुन लीजिए—आपके सद्गुरु श्रीरामदासकी आज्ञाका पालन करते रहिए; बड़े भाग्यसे रामदास-जैसे गुरु मिलते हैं। एक बात ध्यानमें रखना—भले आदमियोंकी सेवा करना और कोई काम ऐसा मत करना जिससे लोग आपकी निन्दा करें। चुगलखोर और दुर्जनोंकी वातोंपर ध्यान न देकर राज्यके हितैषियोंकी सेवा करते रहना, आप सर्वज्ञ हैं आपको कुछ भी वतलानेकी आवश्यकता नहीं है। आपकी कीर्ति अमर रहे। आपका जन्म धन्य है। आपको मेरे दर्शनोंकी कोई आवश्यकता नहीं।"

तुकारामके इन अभंगोंका शिवाजीके मनपर वड़ा गहरा असर पड़ा। एक समय तुकाराम लोह-गाँवमें थे तव छत्रपति उनका उपदेश सुननेके लिए आये। उपदेश सुनकर छत्रपतिको संसारसे विराग हो आया और वे राज्य-कार्यसे उदासीन होकर नियमित रूपसे तुकारामके उपदेश सुनने आने लगे। शिवाजीकी यह दशा देखकर जीजावाईने तुकारामसे कहा कि शिवाजीका यों राजकाजसे विमुख होना ठीक नहीं। दूसरे दिनके सत्संगमें तुकारामने कर्तव्य पालनको सबसे वड़ा धर्म वतलाया। इस उपदेशसे शिवाजी प्रभावित हुए और पुनः राजकार्यमें लग गये।

तुकारामके समकालीन रामदास-जैसे साधुने भी उनकी वैकुण्ठयात्राके निम्नलिखित वर्णनकी पुष्टि की है। घटना इस प्रकार है कि शाके १५७१की फाल्गुन कृष्ण द्वितीयाके दिन तुकारामने अपने अनुयायियोंसे कहा कि आज उनके वैकुण्ठ जानेका दिन आ गया है। अपनी

पत्नीको भी उन्होंने अपने वैकुण्ठप्रयाणकी सूचना दी पर वह पाँच माहकी गर्भवती थी, इसलिए नहीं आ सकी। उस दिन पहले वे अपने पूर्वजोंके मन्दिरमें उपदेश करते रहे फिर बाहर आकर इन्द्रायणी नदीके तटपर चले गये। उनके शिष्य भी यह नहीं जान सके कि तुकडोजी किधर जा रहे हैं। नदीके तटपर उनके साथ चौदह शिष्य थे। वहाँ उन्होंने पच्चीस अभंग बनाकर सुनाये। इसी समय क्या होता है कि तुकारामका शरीर तेज-पुञ्ज बन गया। शिष्योंकी आँखे चौंधियाँ गयीं और एक विमान आया जिसमें बैठकर तुकाराम वैकुण्ठ प्रयाण कर गये। उन शिष्योंको तुकारामका शरीर नहीं मिला। सन्त और भक्त तुकाराम सदेह वैकुण्ठासी नहीं भी हुए तो भी तेजोमय शरीरमें उनका पाञ्चभौतिक शरीर रूपान्तरित हो गया। उनकी पत्नीको जब यह समाचार मिला तो वह बहुत दुःखी हुईं। तुकारामके वैकुण्ठवासके समय महादेव और विठोबा नामके दो पुत्र तथा काशी, भागीरथी और गंगा नामकी तीन पुत्रियाँ थी। चार महीने बाद एक पुत्र हुआ जिसका नाम नारायण रखा गया। नारायण भी पिताकी तरह भगवान्का भक्त था। आज भी महाराष्ट्र तुकारामके अभंगोंका ऋणी है।

श्रीगुबिन्द अलबेलो है!

वृन्दावन बीथिनमें रास कौ रचैया यही,
बृज बनितान कौ गुमान, मान, झेलो है!
ग्वाल-बाल, गउअनमें, देव और दुष्टनमें,
जानेई पुकारौ यह ताही संग खेलो है!!

ऐसो ये उदार, त्रिपुरारि यापै मुग्ध भयें,
सुकवि "मृगेश" मन होत सदा चेलो है!
राधे नाम रटबे तें राखें पत कृपा-सिन्धु,
नागर नबेलो श्रीगुबिन्द अलबेलो है!!

—श्रीमानस मृगेश

कृष्ण प्रियतम ★

देख लो है, शरत् पूर्णिमा-यामिनी,
प्राण प्रियतम पुरुष पूर्णकी भामिनी।
साँवरे कृष्णकी खोजमें लीन है,
गोपियाँ मुक्ति-जलमें बनी मीन है॥

छिप गया है किधर श्याम चितचोर-सा,
नाचता था अभी प्रेममय मोर-सा।
स्नात सौरभ सरस साधना-मीत था,
मुक्त मञ्जुल मुखर वन्दना-गीत था॥

ज्ञान पावन परम सत्य साकार था,
भक्ति भावुक चरम पूर्ण आकार था।
सृष्टि जीवन स्वयं मुक्तिमय कंत था,
प्रात मंगल मधुर आदि और अन्त था॥

बोलता था बना चेतनाका नमन,
सत्य उर नीर सिंचित सलोना सुमन।
लोचनोंका मृदुल सार नवनीत था,
राधिकाकी मधुर भावना प्रीत था॥

प्राण बन्दित अनन्दित विरल व्योममें,
ज्योति जीवन जुगत जीव जग सोममें।
कोटि दिनकर प्रदीपित गिरा श्याम था,
सत्य माधव हमारा स्वयं राम था॥

डाक्टर श्रीशिवकुमार शर्मा

है कहाँ स्वप्न मनका सुघड़ साँवरा,
सृष्टि कारण सनातन सरस रावरा।
मित्र पावन परम प्राणका नाथ था,
कुछ निमिष पूर्व ही तो अभी साथ था।।

कोटि स्वरमें ध्वनित जीवका जागरण,
था हटाता रहा ज्ञानसे आवरण।
साँसका सुख स्वयं सत्य सानन्द था,
मीन मनमें मुकुल मुक्ति आनन्द था।।

अर्चनाका प्रमन धर्मका मर्म था,
ज्ञात अज्ञातमें एक हो कर्म था।
लीन मोहक मुखर स्नात उरकी कथा,
है कहाँपर छिपी बाँसुरीकी प्रथा।।

अब दिखावें किसे हम हृदयकी कली,
कोटि नीरज यहाँ एक ही तो अली।
प्राण केतन अचेतन सरस धाम है,
कृष्ण प्रियतम हमारा मधुर श्याम है।।

●

स्याम रंग

या अनुरागी चित्तकी गति समुझै न हि कोय।
ज्यों-ज्यों डूबे स्याम रंग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।।

(महाकवि बिहारी)

सुदामा चरितके अमर गायक

महाकवि नरोत्तमदास

श्रीगोपालदास अग्रवाल एम० ए०, एल० टी०

यदि यह पूछा जाय कि साहित्यिककी परिभाषा क्या है, तो उसका उत्तर देना कठिन होगा। साहित्यिक व्यक्तिके सम्बन्धमें जब विचार किया जाता है तब यही अनुमान किया जाता है कि उक्त साहित्यकारने अनेक ग्रन्थोंका प्रणयन अवश्य किया होगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि साहित्यकार उसीको कहते हैं जो साहित्यके विविध विषयोंपर अपनी लेखनी सफलता-पूर्वक चलाकर यश: कीर्ति पा सकनेमें समर्थ हुआ हो। किन्तु यह भी सत्य है कि प्रसिद्धि या कीर्ति प्राप्त करनेके लिए एक साहित्यकारके लिए यह तनिक भी आवश्यक नहीं है कि उसने दर्जनों ग्रन्थोंकी रचनाकी हो, अथवा साहित्यके अन्य अंग निबन्ध, नाटक, आलोचना, कविता, व्याकरणका प्रकाण्ड पण्डित हो। प्रसिद्धिके लिए एक कवि, लेखक या साहित्यकारकी एक सर्वोत्कृष्ट कृति ही पर्याप्त होती है जो उसको अजर-अमर बना सकनेमें समर्थ होती है। सुदामा चरितके रचयिता महाकवि नरोत्तमदासजी ऐसे ही एक साहित्यकार थे। जिनके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि वे केवल अपनी एक ही रचना 'सुदामा-चरित' के कारण अमर हो गये हैं। इसका कारण यह है कि कवि नरोत्तमदासने सुदामा-चरितमें जो विषय-वस्तु तथा कथानक लिया है वह पौराणिक अवश्य है, किन्तु वर्णन-शैली और भाव व्यक्त करनेकी कला इतनी बेजोड़ है कि कृष्ण और सुदामाकी मित्रताको लेकर आजतक जितने भी अन्य ग्रन्थोंकी रचना हुई, एक भी ग्रन्थ सुदामा-चरितकी समता कर सकनेमें समर्थ नहीं हैं। यही कारण है कि सुदामा-चरितका हिन्दी साहित्यमें निजका स्थान है। इसीलिए नरोत्तमदासजी साहित्यिकों द्वारा आदर एवं श्रद्धाकी दृष्टिसे देखे जाते हैं।

कवि नरोत्तमदासजी सीतापुर जिलान्तर्गत कस्बा बाड़ीके निवासा थे। आपका जन्म सन् १५५० के लगभग हुआ था। नरोत्तमदासजी एक प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। आपकी प्रतिभाका परिचय हमें सुदामा-चरितमें सहज ही देखनेको मिल जाता है। सुदामा-चरितकी रचना लगभग १५८२ के आसपास हुई थी। आपने इस उत्कृष्ट काव्यमें श्रीकृष्ण और उनके सहपाठी सखा सुदामाकी भेंटका बड़ा ही हृदयग्राही एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है।

सुदामा-चरित्र काव्यमें कवि द्वारा वर्णित सुदामाका द्वारिकापुरी जाना, वहाँके अपूर्व वैभवका दर्शन, अपने सखा भगवान् श्रीकृष्णसे प्रेमपूर्वक मिलना तथा प्रचुर धन-सम्पदाका मुक्त रूपसे दान देकर श्रीकृष्णद्वारा उनके कष्टोंका निवारण आदि प्रसङ्ग वर्णन-शैलीकी दृष्टिसे रोचक, सुन्दर तथा भावनामय हैं। आपकी वर्णन-शैलीकी यह विशेपता है कि परिष्कृत ब्रजभाषामें लिखी हुई सम्पूर्ण रचना एक उत्कृष्ट काव्यका रूप धारण कर सकी। भाषा, भाव, शैली, छन्द तथा मनोभावोंका इतना सुन्दर समावेश किया गया है कि सुदामा-चरितके पद पढ़ते-पढ़ते अनायास ही याद हो जाते हैं। यही कारण है कि जो पाठक एकवार सुदामा-चरितको पढ़ता है वह वहुत दिनों तक मित्रताके प्रतीक आदर्श पदोंको गुनगुनाता हुआ देखा जाता है। निःसन्देह नरोत्तमदासजी केवल एक ही रचना सुदामा-चरित प्रस्तुत कर हिन्दी जगतमें सदाके लिए अजर-अमर हो गये हैं।

सुदामा-चरितके कुछ हृदयग्राही एवं पाठकोंको रुला देनेवाले वर्णन देखते ही बनते हैं। सुदामाकी पत्नी सुदामाको उनके वचपनके सखा श्रीकृष्णका स्मरण दिलाती हुई कहती हैं कि 'आपको दरिद्रताके समय उनके पास जाना चाहिए, वे हमारे कष्टोंको दूर करेंगे।' सुदामाजी तो सन्तोषी ब्राह्मण हैं और ब्राह्मणोंको भिक्षाके अतिरिक्त और चाहिए क्या? वे अपनी पत्नीको समझाते हुए कहते हैं—

'सिच्छक हौं सिगरे जगको तिय ताको कहा अव देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत सम्पतिकी तिनके नहिं इच्छा॥
मेरे हिये हरिके पदपंकज वार हजार लै देखु परिच्छा।
औरनको धन चाहिए वावरि, वाह्मनको धन केवल भिच्छा॥'

इस सवैयेमें कविने एक सन्तोषी ब्राह्मणके हृदयगत भावोंका चित्रण इतनी कुशलताके साथ किया है कि देखते ही बनता है। सुदामा अपनी स्त्रीसे यह कहते हैं कि 'धनकी इच्छा मुझे नहीं है। ब्राह्मणका निर्वाह तो भिक्षासे हो जाता है, अतः वही ब्राह्मण-धन है।'

आगे सुदामाजी कहते हैं कि 'क्या जाते ही श्रीकृष्ण गाड़ी भरा देंगे, ऐसा तुम्हें विश्वास है। यदि हमारे भाग्यमें दरिद्रता ही लिखी है तव वह किसीके मेटनेसे नहीं मिट सकेगी।' पति-पत्नीका यह वार्तालाप चल रहा है। दोनों एक दूसरेको समझानेका प्रयास करते हैं, किन्तु पत्नीका यह आग्रह है कि 'आपको जाना पड़ेगा और जाना चाहिए, क्योंकि अपने सखाके यहाँ जानेमें लज्जाकी कोई वात नहीं है। सुदामाकी पत्नी कहती है—

हू जै कनावड़ो बार हजारलौं, जौ हितू दीनदयाल सो पाइए।
तीनहुँ लोकके ठाकुर हैं, तिनके दरवार न जात लजाइए॥
मेरी कही जियमें धरिके प्रिय और न भूलि प्रसंग चलाइए।
औरके द्वार सों काज कहा पिय द्वारिकानाथके द्वारे सिधाइए॥

सुदामाकी पत्नी सुदामाजीको समझा-बुझाकर सखाकी सेवामें भेज ही देती हैं। सुदामाजी द्वारिकापुरी पहुँच गये। उसी दीन-हीन अवस्थामें फटे-पुराने कपड़े पहिने हुए। जब सुदामाजी पहुँचे तब द्वारपालने उनसे परिचय पूछा। सुदामाजी अपना परिचय देते हैं। द्वारपाल श्रीकृष्णके पास जा सुदामाका परिचय इन शब्दोंमें देता है। परिचय कितना स्वाभाविक है, कृत्रिमताकी झलकतक देखनेको न मिलेगी।

'सीस पगा न झगा तनमें प्रभु,
जाने को आहि बसे केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु
पाँय उपानह की नहिं सामा।
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि
रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम
बतावत आपनो नाम सुदामा॥'

श्रीकृष्ण भगवान, सुदामाका नाम सुनते ही राजसिंहासनसे कूद पड़ते हैं और तत्काल ही सुदामासे मिलनेके लिए व्याकुल हो जाते हैं। सुदामाकी दीन-हीन अवस्थाको देखकर उन्हें कितना कष्ट होता है। उसके प्रतिकारमें एक मित्रका स्वागत-सत्कार एक मित्रको जिस प्रकार करना चाहिए, श्रीकृष्णने किया। देखिये कविने कितना हृदय-स्पर्शी वर्णन किया है—

'ऐसे बिहाल बिवाइन सों भए, कंटक-जाल लगे पुनि जोए।
हाय महादुख पायो सखा, तुम आये इतै न कितै दिन खोए॥
देखि सुदामाकी दीन-दशा करुना करिके करुनानिधि रोए।
पानी परातको हाथ छुयौ नहिं, नैननके जल सों पग धोए॥'

इस अवसरपर श्रीकृष्णका आर्द्र हो जाना स्वाभाविक ही है। वे सुदामाजीसे पूछते हैं कि 'भाभीने हमारे लिए क्या दिया है?' सुदामाजीकी पत्नीने चावल बाँध दिये थे जिसे सुदामा अपने बगलमें दबाये हैं। श्रीकृष्णजी तो सब समझते ही थे। उन्होंने बगलकी पोटली खींच ली और तत्काल ही सुदामाको माला-माल कर दिया। जब श्रीकृष्णजीने दो मुट्ठी चावल खाकर दो लोक अपने मित्रको अर्पित कर दिये, तब रुक्मिणीने हाथ पकड़ लिया। सुदामाजी तो माला-माल हो चुके थे। उनकी सदाकी निर्धनता सदाके लिए रफू हो गयी, परन्तु सुदामाको यह सब पता नहीं। वे तो यही समझते हैं कि श्रीकृष्णने मुझे कुछ नहीं दिया और मन ही मन पत्नीपर रोष प्रगट करते हैं। श्रीकृष्णसे विदा लेकर खाली हाथ ही रवाना होते हैं। जब वे अपने घरके पास पहुँचते हैं तब उन्हें सर्वत्र परिवर्तन ही परिवर्तन दिखलायी पड़ता है। वे आश्चर्यमें पड़ जाते हैं और आस-पास अपनी टूटी-सी मड़ैयाका पता ठिकाना पूछते हैं—

'टूटी सी मड़ैया मेरी परी हुती याही ठौर,
तामें परों दुख काटों कहा हेम-धाम री।
जेवर जराऊ तुम साजे प्रति अंग अंग,
सखी सोहैं संग वह छूछी हवी छामरी॥
तुम तो पटम्बर री ओढ़ै हो किनारीदार,
सारी जरतारी वह ओढ़े कारी कामरी।
मेरी वा पँडाइनि तिहारी अनुहारि ही पै,
विपदा सताई वह पाई कहाँ पामरी॥'

सुदामाकी पत्नीने वस्तु स्थितिको स्पष्ट कर दिया, किन्तु सुदामाको इतना बड़ा परिवर्तन देखकर इतना आश्चर्य होना उचित ही था। सुदामा और उनकी पत्नी सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे और भगवान् श्रीकृष्णकी मित्रताका सर्वत्र गुणगान होने लगा।

कवि नरोत्तमदासजी केवल इसी रचनाके कारण अजर अमर हैं।

•

वासुदेवः सर्वम्

भगवान् वासुदेव ही वेदोंके परम प्रतिपाद्य है। समस्त यज्ञों द्वारा वासुदेवकी ही आराधना होती है। सारे योग वासुदेवकी ही प्राप्तिके साधन हैं। संपूर्ण शुभ कर्म वासुदेवकी ही प्रसन्नताके लिए किये जाते हैं। ज्ञान और तपके परम चरम लक्ष्य वासुदेव ही हैं। समस्त धर्मोंके परम साध्य अथवा प्राप्य वासुदेव हैं तथा वासुदेव ही सबकी परम गति हैं।

(श्रीमद्भाग० १।२।२९)

वसन्त-पञ्चमीके उपलक्ष्यमें—

व्रज-साहित्यमें वसन्त

ज्यो० श्रीराधेश्याम द्विवेदी

वसन्त-वैभवका विशद वर्णन वैसे तो सभी भाषाओंके साहित्यमें मिलता है, किन्तु संस्कृत साहित्यके वाद यदि वसन्त और होलीका वर्णन देखना हो तो विभूतिमयी व्रजभाषाके साहित्य-भण्डारमें ही देखनेको मिलता है, महाकवि सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास आदि अष्टछापके कवियोंके अतिरिक्त केशवदेव, द्विजदेव, विहारी, पद्माकर, रत्नाकर, विद्यापति और सेनापति, ग्वाल गंग, और लाल वलवीर यहाँतक कि आजके विद्यमान व्रजभाषाके कवियोंने भी वसन्त और होलीपर खूव ही लिखा है। आश्चर्य तो यह है कि मुसलिम कवि रसखान, तोण और कमाल तकने वसन्तपर कमालकी कविताएँ लिखी हैं, जिनको पढ़ने सुननेसे वसन्त-ऋतुका प्रत्यक्ष दर्शन सामने उपस्थित हो जाता है। व्रजप्रदेश और व्रजसंस्कृतिका वसन्त और होलीसे घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण भक्तिकाल और रीतिकालके कवियोंने वसन्तके वर्णनमें कोई कमी नहीं रक्खी है और व्रजसाहित्यके भण्डारके उपवनको सभी ऋतुओंके वर्णनसे हराभरा किया। व्रजप्रदेश प्राकृतिक सौन्दर्यका प्रदेश रहा है अनेक वन और उपवनोंसे आवेष्ठित गिरि गोवर्धन और कालिन्दीसे कमनीय यह प्रदेश वसन्त ऋतुका वैभवपूर्ण प्रदेश था, जिसमें व्रजेश श्रीकृष्णने अपनी वालमनोहर लीलाओंसे इसको और भी रंगीला और रसमय वना दिया। वसन्तकी इस ऋतुमें महान् पर्व होलीका आगमन शिशिरके उत्पातके अन्तसे होता।

व्रजके काव्य-साहित्यमें वसन्त और होली या फाग आदिकी कल्पना सन्त कवियोंने अपने प्रिय, इष्टके सांनिध्य और प्राप्तिके लिए की है। ऐसी मधुर मधु-माधवीय ऋतुमें पावन पर्वोंके उल्लासमय राग, रंग, गीत-वाद्योंसे युक्त, संगीत और संस्कृतिका समन्वय कर वसन्तके वैभवकी अभिवृद्धिकी है। भक्तिकालके कवियोंके हृदयमें काव्य-भावनाकी अपेक्षा भक्तिभावनाका वाहुल्य था। उनका लक्ष्य भगवद्-भक्ति ही था। जो कुछ उन्होंने अपने ललित काव्यमें लिखा वह अपने इष्टदेवको रिझानेके लिए और उसकी लीलाओंके वर्णनको लोकप्रिय वनानेके लिए ही लिखा।

कदम्वकी कुंजोंकी कमनीयता केकी, कोकिल और कीरकी कूक मधु-माधुरी मालती-मादकता, मधुर मधुकरोंकी मोहक गुंजार, रसालोंकी वहार, वन-उपवन वाग और वगीचियोंके वहारके वर्णनके अतिरिक्त अपने इष्टदेवके वसन्त-आभूषणकी शोभा अवीर और गुलाल, कुंकुम और केशरके लाल, पीले रंगोंकी रंगीली होलीकी छटा, साथ ही अनेक फाग युक्त संगीतके गानसे इस ऋतु-वर्णनको सर्वांगपूर्ण सुन्दर और आनन्दमय वनाया गया है।

कविवर बिहारीलालने वसन्त-वर्णनके निम्न दोहोंमें वसन्तका साक्षात् स्वरूप सामने रख दिया है।

छकि रसाल सौरभ सजे, मधुर माधुरी गन्ध।
ठौर ठौर झौरत झपत, झौर झौर मधु अन्ध॥
या मधुऋतुमें कौन के बढ़त न मोद अनन्त।
कोकिल गावत है कुहुकि मधुरा गंजरत तन्त॥
दिशि दिशि, कुसुमित देखियत उपवन विपिन समाज।
मनौ वियोगिन कौ कियौ सर, पंजर ऋतुराज॥
कहुं लावति बिकसित कुसुम कहूँ डोलावत वाय।
कहूँ छिपावत चाँदनी मधुऋतु दासी आय॥
अली मान तजि सेइये हिलमिल प्यारे कन्त।
सब जग मन भायो भयौ हाकिम नयो वसन्त॥
अलि गुंजत कूजत विहँग प्रफुलित कुसुम अनन्त।
शीतल मन्द सुगन्ध वह पौन बखानि वसन्त॥

उपर्युक्त दोहोंमें कविने वसन्तका विशुद्ध वर्णन किया है। भक्तिकालके कवियोंकी कृतियोंमें तो कृष्णभक्तिकी भावना बिलकुल भरी पड़ी है। जैसा कि सूरदास और कृष्णदासके पदोंसे जाननेको मिलता है।

आइ हैं हम नन्दके द्वारे।
खेलन फाग वसन्त पञ्चमी सुख समाज विचारे॥ १॥
कोउलै अगर कुंकमा केशरि काहू के मुखपर डारे।
कोऊ अबीर लाल उड़ावें आनन्द तनन सँभारें॥ २॥
मोहनको गोपी निरखत सब नीकें वदन निहारें।
चितवनिमें सबही 'बस' कीनी नागर नन्द दुलारें॥ ३॥
ताल मृदंग मुरली डफ बाजें झाँझनकी झनकारें।
सूरदास प्रभु रीझि मगन भये गोप वधू तनवारें॥ ४॥

छिरकत छींट छबीली राधे चन्दन भरि भरि वोरी रे।
अबीर गुलाल विविध रंग सों धो लोचन परि गयी मोरी रे॥ १॥
सर्वस वस कियो रसिक कुमारी प्रेम फंदहि डोरी रे।
सूर प्रभु गिरिधरलाल कों देर ही प्रेम अकोरी रे॥ २॥

(२)

अब कृष्णदासका वसन्त सुनिये :

लाल गुपाल गुलाल हमारी आँखिनमें जिन डारोजू।
बदन चन्द्रमा नैन चकोरी इन अन्तर जिन पारोजू॥ १॥

गाओ राग बसन्त परस्पर अटपटे खेल निवारो जू।
कुंकुम रंग सों भरि पिचकारी तकि नैनन जिन मारो जू॥ २॥
वंक विलोचन दुखके मोचन भरि कें दृष्टि निहारो जू।
नागरी नायक सव सुखदायक कृष्णदास कों तारो जू॥ ३॥

ये वसन्तके पद वल्लभकुल-मन्दिरोंमें कीर्तनके समय धमार तालमें गाये जाते हैं जो धमार कहलाते हैं। भक्त कवियोंके इन भाव भरे संगीतमय पदोंमें भक्तिभावनाके साथ-साथ साहित्यका आनन्द भी मिलता है। इसी प्रकार धर्मानुरागी अन्य सम्प्रदायोंके अन्य सन्त कवियोंने भी अपने इष्टदेवको रिझानेके लिए वसन्त और फागके पद गाये हैं और कवित्त सुनाये हैं :

रीतिकालके आचार्य कवि केशवने वसन्तके वर्णनमें ही भक्तिकालीन परम्पराके मार्गसे भिन्न मार्ग अपनाया—जिसमें साहित्यका नवीन विकसित रूप सामने आया :

कोकिल की केका सुनि कारे न मथत मन
मन मथ मनोरथ रथ पथ सोहिये।
कोकिला की काकलिन कलित ललित बाग
देखत न अनुराग उर अवसेहिये॥
कोकिन की कारिका कहत सुक सारिकानि
केसोदास नारिका कुमारिका हू मोहिये।
हंस माल बोलत ही मानकी उतरि माल
बोले नन्दलाल सो न ऐसी बोल लो हिये॥

इसी प्रकार कवि पदमाकरका, कितना सुन्दर वर्णन है। उसे सुनिये :

कूलनमें कोलिन कछारनमें कुंजनमें वयारिनमें कलित कलीन किलकन्त है।
कहै पदमाकर परागईमें पौन हूँ मैं पातिनमें पिकन पलाशन पगन्त है॥
द्वारमें दिशानमें दुनीमें देश देशनमें देख्यों दीप दीपनमें दीपत दिगन्त है।
दीपिनमें ब्रजमें नवोलिनमें बोलिनमें वननमें बागनमें बगरचौ वसन्त है॥

पदमाकरके ऐसे अनेक कवित्त आलंकारिक, प्राकृतिक सौन्दर्ययुक्त वसन्त-वर्णन मिलते हैं।

कविवर ग्वालने वसन्तके साथ फागका आनन्द भी प्रदान किया है।

फूल रही सरसों चहुँ ओर, ज्यौं सोने के बेस विछावत साँचे।
चीर सजे नर नारिन पीत वढ़ी रसरीत वरंगना नाचे॥
त्यों कवि ग्वाल रसालके बौरन औरन झौंरन ऊधम माँचे।
काम गुरू भयौ फाग शुरू भयौ खेलिए आज वसन्तकी पाँचे॥

कविवर वृन्दावन-निवासी लाल वलवीरने अपनी भक्ति-भावनापूर्ण काव्य कृतिसे साहित्य-सुधाका पान कराया है।

वनन पै बागन पै बागनकी बीथिन पै, वृक्षन पै बेनि पे शोभा सरसन्त है।
व्रजकी नवेलिन पै बैनिन पै वस्त्रन पै, बेसर बुलाखन पै व्यूह दरसन्त है॥
लाल बलवीर जूकी बाँसुरी पै बैनन पै, विहंसि विलोकन पै हेर हरसन्त है।
बरनत बनत ना बहार है अनन्त देखौ, वृन्दावन चन्द पै वसन्त बरसन्त है॥

देख वन बागनमें सुमन बसन्ती खिले, पवन बसन्ती ये त्रिविध सुखदाई है!
वसन वसन्ती धार धार अंग अंगनमें, केशर वसन्ती खौर मालन सजाई है॥
लाल बलवीर प्यारी प्रीतमके संग सवै, गावत वसन्ती राग मोद सरसाई है।
दिख छवि जाई भई व्रजमें अवाई, बड़े भागनने प्यारी ये वसन्त ऋतु आई है॥

बाल गोल गोरी मनमोहन गहौ री कोऊ, मीजैं मुख रोरी आज होरी लाल होरी है।
छीन लई लकुट मुकट बेनु पीत पटी, चूँदरी उढ़ाय हसें वधूरी हँसोरी है॥
लाल बलवीर लोक पालन कौ पाल लाल, देखो व्रज बालनकी बंध्यौ प्रेम डोरी है।
बूझै चितचोरी नई कौन ये कहो री, हँसि कहत किशोरी मोरी नन्दजूकी छोरी है॥

अब मुसलिम कवि रसखान और कमालका वर्णन सुनिये :—

डहडही मोरी मंजुडार सहकारकी पैं चहचही चुहिल चहूं किल अलीनकी।
लहलही लोनी लता लपटी तमालन पै कहकही तापैं कोकिलाकी काकलीन की॥
तहतही करि रसखानके मिलन हेतु लहलहो बानि तजि मानस मलीन की।
महमही मंद मंद मारुत मिलन तैसी गहगही खिलन गुलावकी कलीन की॥

कवि कमालका भी कमाल देखिए—

आयो है वसन्त कन्त वास कियौ अन्त लाग्यौ मैन सरतंत सुधि नेको नहीं अंगकी।
गावत धमारे ते अधिक उपचारैं आह कोकिल पुकारैं मनो नैन भट जंगकी॥
होलीके जरत धीर कैस्यौ न धरत बनैं ताही मैं परत है व्यथाको मनो संगकी।
और नहिं चार सब थाकी कैं कमाल बाल लीन तेहि काल गनि पञ्जर पतंगकी॥

वसन्त और फाग व्रज-साहित्य और संस्कृतिका सच्चा अचल सुहाग है।

प्रसिद्ध कवियोंके अतिरिक्त सैकड़ो अप्रसिद्ध विस्मृत कवि हैं; जिन्होंने वसन्त और होलीके वर्णनमें बहुत कुछ लिखा है और अपनी छाप तक नहीं लगाई है। कहनेका तात्पर्य यही है कि व्रजभाषा-साहित्यमें वसन्त और होलीका भरपूर भण्डार भरा है, जिसका आनन्द व्रजसाहित्य-सरितामें गोता लगानेपर ही मिल पाता है।

धर्म, साम्यवाद और भारतीय संस्कृति

श्रीमहेन्द्र गुप्त

साम्यवादी देश धार्मिक मठों और धर्मके विरोधी हैं। धर्मनिरपेक्षतासे उनका तात्पर्य धर्मविहीन समाजसे होता है। क्या साम्यवादी देशोंमें साम्यवादी दलके कार्यालय किसी मठसे कम हैं। दलके सदस्योंके लिए, दूसरोंकी तुलनामें अधिक सुविधाएँ हैं। यह कैसा साम्यवाद या समाजवाद है? क्या धर्मविहीन समाजकी कल्पना, भारतमें की जा सकती है? यदि नहीं तो 'साम्यवाद' मूलतः भारतविरोधी नारा है। समाजवादकी झाँकी तो, हमारे देशके उस समयके वैदिक कालमें देखी जा सकती है, जब आजकलके साम्यवादी देशोंके समसामयिक पूर्वज, जंगलोंमें भटक रहे थे।

अभी तो धर्मनिरपेक्ष राज्यमें ही, अनाचार एवं भ्रष्टाचारका इतना बोलबाला हो गया है कि यदि कभी धर्मविहीन, जिसकी सम्भावना कम ही है, राज्य हुआ तब देशकी क्या गति बनेगी और समाजकी क्या दुर्गति होगी, इसकी कल्पनासे ही आत्मा कचोटने लगती है?

अस्तु, भारतमें धर्मको समाजवादी राजनीतिसे पृथक् नहीं किया जा सकता है। धर्मको विपन्नावस्थामें पहुँचानेवाले पाश्चात्य तथा साम्यवादी देशोंकी दुर्दशाका दृष्टान्त हमारे सम्मुख है। धार्मिक प्रवृत्तियों एवं ईश्वरीय भयके अभावमें ही भारतमें नैतिकताका ह्रास हो रहा है और देश पतनके कगारपर जा खड़ा हुआ है। यह धर्म ही है, जिससे उत्पन्न आत्मबलसे हम सदाचारकी ओर प्रेरित होते हैं। इसीके स्तम्भोंपर प्राचीन सत्ययुगी भारत खड़ा था और उसीके अभावमें कलियुगके धरातलपर गिर पड़ा है। अतएव भारतमें न धर्मान्धता ही वाञ्छनीय है और न ही धर्मविहीनता ही। सम्मिलित-आर्थिक व्यवस्थाकी तरह यहाँ भी मध्यम मार्गीय नीति अपनानी चाहिए। दूसरे शब्दोंमें हम अपने धर्मोंका पालन करते हुए दूसरे धर्मोंके प्रति सहिष्णु एवं निरपेक्ष रहें।

●

मकरसंक्रान्तिका पुण्यपर्व

श्रीरामाभिलाष त्रिपाठी

★

'रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते।' (स्क०)

सूर्य जिस राशिपर स्थित हो उसे छोड़कर जब दूसरी राशिमें प्रवेश करे, उस कालको संक्रान्ति कहते हैं। यह संक्रमण प्रत्येक मासमें होता है, इसीलिए बारह संक्रान्तियाँ होती है—

'सूरः संचरते मासान् द्वादश द्वादशात्मकः।
संक्रमादस्य संक्रान्तिः सर्वैरेव प्रतीयते॥' (पद्मपु०)

इन बारह संक्रान्तियोंको भी अलग-अलग विभागोंमें रखा है—

'अयने द्वे विषुवती चतस्रः षडशीतयः।
चतस्रो विष्णुपद्यश्च संक्रान्त्यो द्वादश स्मृताः॥'

मकरादि ६६ राशियोंके भोगकालमें उत्तरायण तथा कर्कादि ६६ राशियोंमें दक्षिणायन होता है। इसीलिए मकर-कर्कट अयन संक्रान्ति कही जाती हैं। मेष और तुलाकी संक्रान्तिको विषुवत् कहते हैं, वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भकी विष्णुपदी तथा मिथुन, कन्या, धनु एवं मीनकी 'षडशीतिमुख' संज्ञा होती है। यथा—

'मकरकर्कटसंक्रान्तिक्रमेणोत्तरायणं दक्षिणायनं स्यात्।'
(मुक्तक-संग्रह)

'धनुर्मिथुनमीनेषु कन्यायां षडशीतयः।
वृषवृश्चिककुम्भेषु सिंहे विष्णुपदी स्मृता॥' (पद्मपु०)

इन संक्रान्तियोंमें स्नान-दान, तर्पण, देवाराधन एवं व्रतका महत्त्व एवं पुण्य बतलाया गया है। 'तर्पणं चाक्षयं विद्धि दानं देवार्चनं तथा' (पद्मपु०) इन सबमें भी मकरसंक्रान्तिका पुण्यफल बहुत प्रशस्त कहा है—

'षडशीतिसहस्राणि षडशीतौ फलं भवेत्।
विष्णुपद्यां तु लक्षं तु अयने कोटिकोटिकम्॥'

इनमेंसे प्रत्येक संक्रान्तियोंमें पृथक्-पृथक् कृत्यों एवं दानादिकोंका विधान है। मकर संक्रान्तिमें विशेषकर तिलदानका महत्त्व वर्णित है। तिलधेनुका दान विशेष प्रशस्त कहा गया है—

'तिलधेनुं च यो दद्यात् सर्वोपस्करणान्विताम्।
सप्तजन्मार्जितापापान्मुक्तो नाकेऽक्षयो भवेत्॥
भोज्यान्नं ब्राह्मणे दत्त्वा अक्षयं स्वर्गमश्नुते।
धान्यं वस्त्रं तथा भक्ष्यं गृहपीठादिकं च यत्॥
यो ददाति द्विजाग्रयाय तं च लक्ष्मीर्न मुञ्चति।
यत् किंचिद्दीयते दानं स्वल्पं वा यदि वा बहु॥
अक्षयं परलोकेषु युगाद्यासु तथैव च।
यद्वा देवार्चनं स्तोत्रं धर्माख्यानं प्रतिश्रवः॥
पुनाति सर्वपापेभ्यो दिवि पूज्यो भवत्यसौ।

(पद्म० पु० स० १९)

इस प्रकार उपर्युक्त दानादि प्रशस्त कहे गये हैं।

संक्रान्तिके समय व्रत-दान-स्नान-जपादि करनेके विषयमें पुण्यकालके बारेमें विभिन्न आचार्योंके मतोंमें भेद होता है। हेमाद्रिके मतसे संक्रमण-कालके पहले और पीछेकी पन्द्रह-पन्द्रह घड़ियाँ पुण्यकाल मानी हैं—

'अधः पञ्चदश ऊर्ध्वं च पञ्चदशेति।' (हेमाद्रि)

बृहस्पतिके विचारसे दक्षिणायनके पहले और उत्तरायणके पीछेकी बीस-बीस घड़ियां पुण्यकालके लिए प्रशस्त हैं।

'दक्षिणायने विंशतिः पूर्वा मकरे विंशतिः परा।' (बृहस्पति)

इस आधरपर मकरसंक्रान्तिकी परवर्तिनी बीस घड़ियाँ पुण्यकाल होती हैं। आचार्य देवलके मतमें पूर्व और परकी भी तीस-तीस घड़ियाँ पुण्यकालकी होती हैं—

'संक्रान्तिसमयः सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयः............।
तद्योगाच्चाप्यधश्चोर्ध्वं त्रिंशन्नाड्यः पवित्रिताः॥' (देवल)

इनमें वसिष्ठके मतसे विषुवके मध्यकी, विष्णुपदी और दक्षिणायनके पहलेकी तथा षडशीतिमुख तथा उत्तरायणके पीछेकी उपर्युक्त घड़ियाँ प्रशस्त होती हैं—

'मध्ये तु विषुवे पुण्यं प्राग्विष्णौ दक्षिणायने।
षडशीतिमुखेऽतीते अतीते चोत्तरायणे॥' (वसिष्ठ)

वैसे सामान्य रूपसे सभी संक्रान्तियोंकी सोलह-सोलह घड़ियाँ अधिक फलदायक हैं—

'अर्वाक् पोडश विज्ञेया नाड्यः पश्चाच्च पोडश।
कालः पुण्योऽर्कसंक्रान्तेः··· ··· ···॥' (शातातप)

यह विशेषता है कि दिनमें संक्रान्ति हो तो पूरा दिन, अर्धरात्रिसे पहले हो तो उस दिनका उत्तरार्ध, अर्धरात्रिसे पीछे हो तो आनेवाले दिनका पूर्वार्ध, ठीक अर्धरात्रिमें हो तो पहले और पीछेके तीन-तीन पहर और उस समय यदि अयनका भी परिवर्तन हो तो तीन-तीन दिन पुण्यकालके होते हैं—

अह्नि संक्रमणे पुण्यमहः सर्वं प्रकीर्तितम्।
रात्रौ संक्रमणे पुण्यं दिनार्धं स्नानदानयोः॥
अर्धरात्रादधस्तस्मिन् मध्याह्नस्योपरि क्रिया।
ऊर्ध्वं संक्रमणे चोर्ध्वमुदयात् प्रहरत्रयम्॥' (वसिष्ठ)
'पूर्णे चैवार्धरात्रे तु यदा संक्रमते रविः।
'तदा दिनत्रयं पुण्यं मुक्त्वा मकरकर्कटौ॥'

(ज्योतिर्वसिष्ठ)

उस समयके दानमें भी यह विशेषता है कि अयन अथवा संक्रमण-कालका दान उनके आदिमें तथा षडशीतिमुखके निमित्तका दान अन्तमें देना चाहिए—

'अयनादौ सदा देयं द्रव्यमिष्टं गृहेपु यत्।
पडशीतिमुखे चैव विमोचे चन्द्रसूर्ययोः॥'

(संक्रान्तिकृत्य)

जिस दिन संक्रमणकाल हो, उस दिन प्रातःस्नानादिसे निवृत्त होकर 'मम ज्ञाताज्ञात-समस्तपातकोपपातकदुरितक्षयपूर्वकं श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तपुण्यफलप्राप्तये श्रीसूर्य-नारायणप्रीतये च अमुकसंक्रमणकालीनमनकालीनं वा स्नानदानजपहोमादि-कर्माहं करिष्ये।'—ऐसा संकल्प करके तन्निमित्तक कार्य करें। सुवर्णमय सूर्यनारायणकी मूर्तिकी स्थापना कर पूजन भी करना चाहिए। इस प्रकार संक्रान्तिजनितकृत्य एवं तन्निमित्तक व्रतादि करनेसे समस्त पापक्षय, व्याधिनाश तथा सुखसम्पत्ति सन्तानादि प्राप्ति इत्यादि कामनाएँ पूर्ण होती हैं—

'उपोष्यैवं तु संक्रान्तौ स्नातो योऽभ्यर्चयेद्धरिम्।
प्रातः पञ्चोपचारेण स काम्यं फलमश्नुते॥'

(वसिष्ठ)

स्कन्दपुराणमें कहा है कि—

'रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते।
स्नानदानजपश्राद्धहोमादिपु महाफला॥' (नागरख)

स्नान-दान-जप-श्राद्ध होम—इनमेंसे एक-एक कृत्य भी महान् फलदायक कहे गये हैं—

'अत्र स्नानं जपो होमो देवतानां च पूजनम् ।
उपवासस्तथा दानमेकैकं पावनं स्मृतम् ॥' (संवर्त०)

कहीं-कहीं रात्रि-स्नानका निषेध भी प्राप्त होता है । पर संक्रान्तिमें रात्रिस्नानका भी विधान मिलता है—

'विवाहव्रतसंक्रान्तिप्रतिष्ठाऋतुजन्मसु ।
तथोपरागपातादौ स्नाने दाने निशा शुभा ॥' (विष्णु०)

संक्रान्तिमें अनिवार्य स्नानका विधान किया गया है—

'रविसंक्रमणे प्राप्ते न स्नायाद् यस्तु मानवः ।
चिरकालिकरोगी स्यान्निर्धनश्चैव जायते ॥' (शातातप)

मकर संक्रान्तिमें व्रतका भी विधान बताया गया है—

'अयने विषुवे चैव ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
अहोरात्रोषितः स्नातः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥' (आपस्तम्ब)

किन्तु पुत्रवान् गृहस्थके लिए इनमें उपवास करनेका निषेध है ।—

'आदित्येऽहनि संक्रान्तौ ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः ।
उपवासो न कर्तव्यो गृहिणा पुत्रिणा तथा ॥' (नारद)

इसलिए उनको स्नान-दानादि ही करना चाहिए । इन सभी संक्रान्तियोंमें अयनसंक्रान्ति (मकर-कर्क संक्रान्तियों) में दानका विशेष फल बताया गया है ।

'षडशीत्यां तु यद् दत्तं यद् दानं विषुवद्द्वये ।
दृश्यते सागरस्यान्तस्तस्यान्तो नैव दृश्यते ॥'
'अयने कोटिपुण्यं च लक्षं विष्णुपदीफलम् ।
षडशीतिसहस्रं च षडशीत्यां स्मृतं बुधैः ॥' (वसिष्ठ)

संक्रान्तिमें जो कुछ दान दिया जाता है वह बार-बार दाताको अनन्तगुणित होकर प्राप्त होता है—

'संक्रान्तौ यानि दत्तानि हव्यकव्यानि दातृभिः ।
तानि नित्यं ददात्यर्कः पुनर्जन्मनि जन्मनि ॥' (शातातप)

●

मातजीकी बात-चीत—

सत्यमेव जयते

श्रीमां, श्रीअरविन्द-आश्रम, पाण्डिचेरी-२

☆

प्र०—मां, ऐसा कहा जाता है कि अच्छाई और सत्यकी सदा विजय होती है, किन्तु प्रायशः जीवनमें इसका उलटा ही दिखलायी पड़ता है। दुष्ट लोगोंकी ही विजय होती है, लगता है, जैसे वे किसी प्रकारसे कष्टोंसे संरक्षण प्राप्त करते हैं।

उ०—(माताजी हँसती हैं) लोग सदा दो विचारोंके बीच गड़बड़ी कर देते हैं।

ऐसी बात वैद्य एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे है, अवश्य ही जिसे लोग अच्छाई समझते हैं, उसकी नहीं, वरन् सचाईकी; सत्यकी, अन्तिम विजय होगी ही, इसमें पूछनेकी कोई बात नहीं। कहनेका अर्थ यह कि अन्तमें भगवान्की विजय होगी ही। यही बात लोग कहा करते हैं, जिसे आध्यात्मिक जीवन जीनेवाले सभी व्यक्तियोंने कहा है—यह परिशुद्ध सत्य है। लोग इसे अनूदित करते हुए कहते हैं—'मैं अच्छा आदमी हूँ, मैं जो कुछ अच्छा समझता हूँ, उसीके अनुसार जीवन यापन करता हूँ, इसलिए मेरे लिए सारा अस्तित्व भला होना चाहिए।' (माताजी हँसती हैं) सबसे पहले अपने गुणोंका स्वयं निरूपण करना ही सदा सन्देहका विषय होता है, और तब, दुनिया आज जैसी है, इसमें सब कुछ मिश्रित है—सत्यका विज्ञान अर्थान्ध मानव-चेतनाके सम्मुख खुले रूपमें अपनेको अभिव्यक्त नहीं करता—यह उसे नहीं पहचानेगा। अधिक सही सही मेरे कहनेका अर्थ यह है कि परम दृष्टि ही सदा अपनेको चरितार्थ कर रही है; किन्तु मिश्रित भौतिक जगत्में इसकी चरितार्थता अज्ञ मानव-दृष्टिको अच्छाई की—जिसे मनुष्य अच्छाई और सत्य कहते हैं, उसकी विजय प्रतीत नहीं होती। किन्तु (विनोदके भावसे कहा जाय तो) यह भगवान्का दोष नहीं है, यह दोष है मनुष्योंका; कहनेका अर्थ यह कि भगवान् ज़ानते हैं कि वे क्या क़र रहे हैं, और मनुष्य उसे समझते नहीं।

प्र०—सत्यके जगतमें सब कुछ शायद वैसा ही होगा जैसा कि आज है, केवल उसके देखनेका ढंग कुछ और होगा।

उ०—दोनों ही। एक अन्तर होगा। जगत्का वर्तमान अज्ञान और अन्धकार भागवत क्रियाको एक विकृत रूप दे देता है; और स्वभावतः इसे लुप्त होने लग जाना चाहिए; किन्तु यह भी सच है कि वस्तुओंको देखनेका एक और भी तरीका है जो कहा जा सकता है कि, उनके रूपको एक दूसरा ही अर्थ प्रदान करता है—दोनों ही यों विद्यमान हैं (एक दूसरेमें मिश्रित होनेकी इंगिति)।

(मौन)

हम बराबर इसी बातपर पहुँचते हैं कि मनुष्योंकी विवेचना गलत होती हे—गलत इसलिए होती है, क्योंकि वस्तुओंके प्रति उनका दृष्टिकोण गलत होता है—अतएव निश्चय ही इस विवेचनाका परिणाम भी गलत होगा।

जगत् निरन्तर बदल रहा है, निरन्तर एक क्षण भी यह अपने पूर्वरूपमें नहीं रहता, और सार्वभौम सामंजस्य अधिकाधिक अपनेको अभिव्यक्त कर रहा है। परिणामस्वरूप कोई भी वस्तु वहीकी वही बनी नहीं रह सकती, और बाहरसे सब प्रकार विपरीत लगनेपर भी 'समष्टि' सदा सतत विकस रही है; समस्वरता उत्तरोत्तर अधिकाधिक समस्वर होती जा रही है। अभिव्यक्त विश्वमें सत्य उत्तरोत्तर अधिकाधिक सत्य होता जा रहा है। किन्तु इसे देखनेके लिए समस्तको देखना होगा, पर मनुष्य देखता है केवल·· मानव-क्षेत्र मात्र भी नहीं, वरन् बिलकुल छोटा-सा, एकदम छोटा-सा, तिल भरका अपना व्यक्तिगत क्षेत्र ही—वह समझ नहीं सकता।

यह एक दोहरी वस्तु है जो अपनेको पूर्व बनाती चली जा रही है, और यह एक पारस्परिक क्रिया द्वारा; ज्यों-ज्यों अभिव्यक्त विश्व अधिकाधिक चेतन होता जा रहा है, उसकी अभिव्यक्ति पूर्ण होती जाती है, अधिक सत्य भी। दोनों ही क्रियायें साथ-साथ चलती हैं।

(मौन)

यह उन वस्तुओंमेंसे एक है, जो अभी हालमें, जब ज्ञानकी यह चेतना विद्यमान थी, बड़ा स्पष्ट दिखलायी पड़ी थी। जब अभिव्यक्त जगत् निश्चेतनाके भीतरसे इतना काफी निकल चुका होगा कि निश्चेतनकी उपस्थितिके कारण संघर्षकी यह सारी आवश्यकता उत्तरोत्तर निरर्थक होती चली जायगी, तब बिलकुल स्वभावतः ही यह लुप्त हो जायगी तथा विकास, प्रयास और संघर्षके भीतर होनेकी जगह समस्वरताके भीतर होना प्रारम्भ हो जायगा। इसीको मानव-चेतनाने पृथ्वीपर भावी दिव्य सृष्टिके रूपमें देखा है—यह भी मात्र एक पग ही होगा। किन्तु जहाँतक वर्तमान पगका प्रश्न है, यह एक प्रकारके सामंजस्यपूर्ण उत्कर्षकी प्राप्ति है, जो इस वैश्व विकासको (जो सतत चल रहा है) संघर्ष और कष्टके द्वारा विकास होनेके स्थानपर, आनन्द और सामंजस्यके द्वारा विकासमें बदल डालेगा किन्तु, जो बात देखी गयी थी वह यह, कि अपर्याप्तताकी यह भावना जो पूरी नहीं है, पूर्णताको प्राप्त नहीं हुई है, यह

हमें पहलेसे अनुमानित कर लेना होगा कि, यह काफी लंबे कालतक रहेगी—यदि समयकी भावना आज जैसी ही बनी रहे तो, इसका मुझे पता नहीं। किन्तु सभी परिवर्त समयकी अपेक्षा करते हैं, है न; समयकी धारणा आज जैसी है वैसी न भी हो, पर इसमें एकके बाद एक आनेके क्रमकी भावना तो होगी ही।

ये सारी तथा-कथित समस्यायें—हर घड़ी हमारे समक्ष इस प्रकार प्रश्नपर प्रश्न और मनकी समस्यायें आती रहती हैं (अज्ञान-जनित सारी समस्यायें ही न) ये सभी पृथ्वीपरके कीड़ेकी समस्याएँ हैं। ज्यों ही तुम ऊपर निकल आते हो, इस प्रकारकी समस्याएँ नहीं रह जातीं। और न कोई द्वन्द्व भाव ही रह जाता है। द्वन्द्व भाव सदा दृष्टिकी अपर्याप्तता तथा किसी वस्तुको एक ही समय सभी दृष्टिकोणोंसे देखनेकी अशक्यताके कारण आता है।

जो हो, प्रश्नका सीधा उत्तर यही है कि, मेरा ख्याल है कि, किसी भी मनीषीने किसी भी समय ऐसा नहीं कहा। भले बन जाओ और बाह्यरूपसे तुम्हारे लिए सब कुछ भला ही होगा—क्योंकि यह मूर्खता है। अव्यवस्थाके जगत्में और मिथ्याके जगत्में ऐसी आशा करना बुद्धिसंगत नहीं हैं। किन्तु, यदि तुम अपनी सत्ताके तरीकेमें काफी सच्चे और समग्र हो, तो तुम्हें आन्तरिक आनन्द किसी भी परिस्थितिमें पूर्ण सन्तोष प्राप्त हो सकता है; और किसी भी व्यक्ति या किसी भी वस्तुमें ऐसी शक्ति नहीं जो उसका स्पर्श कर सके।

•

सर्वभूतात्मा भगवान्

भगवान् श्री हरि संपूर्ण भूतों के अन्तरात्मा हैं, वे समस्त प्राणी के परम प्रियतम हैं। इनका कोई भी अपना पराया, प्रिय अथवा अप्रिय नहीं होता है।

(श्रीमद्भाग० ६, १७, ३३।)

पूज्यपाद ब्रह्मलीन श्रीमालवीयजीके प्रति

हे देव तुम्हें शत-शत वन्दन

उन्नतिके आरोहण तुम थे,
सद्गुणके संदोहन तुम थे;
सोहन तुम थे सद्भावों से–
साक्षात मदनमोहन तुम थे।
संताप–हरण शीतल चंदन ?
हे देव ! तुम्हें शत-शत वन्दन ॥ १ ॥

तुम जननायक थे नेता थे,
स्वातन्त्र्य-समरके जेता थे।
रक्षक स्वधर्मके रामसदृश–
तुम कलियुगमें भी त्रेता थे॥
हे कलुष-निकंदन द्विजनंदन !
हे देव ! तुम्हें शत-शत वंदन ॥ २ ॥

जन - जन - मन - मंदिरके वासी !
है कीर्ति तुम्हारी अविनाशी;
तुमने अनहोनी-सी कर दी,
एक नयी बसा दी है काशी।
ब्रह्मर्षि ! तुम्हारा अभिनन्दन !
हे देव ! तुम्हें शत-शत वन्दन ॥ ३ ॥

'शंख'

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

'शरीर विमोक्षणात् प्राक्' जबतक काम या क्रोधका वेग शरीरमें-से बाहर नही निकला है, उससे पहिले ही जो उन्हें 'इहैव सोढुं शक्नोति' यहीं व्यवहारमें ही सह लेनेमें समर्थ है; उन्हें भीतर ही दबा देता है, वह युक्त है। ये काम और क्रोध अपनेसे बाहर जाकर अपनेको और दूसरोंको भी जलाते हैं। लेकिन भीतर ही इनको पचा लिया जाय तो ये अमृत हो जाते हैं।

—सांख्ययोग

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ मथुराके लिए देवधर शर्मा द्वारा आनन्दकानन प्रेस ढुण्ढिराज, वाराणसी–१ में मुद्रित एवं प्रकाशित